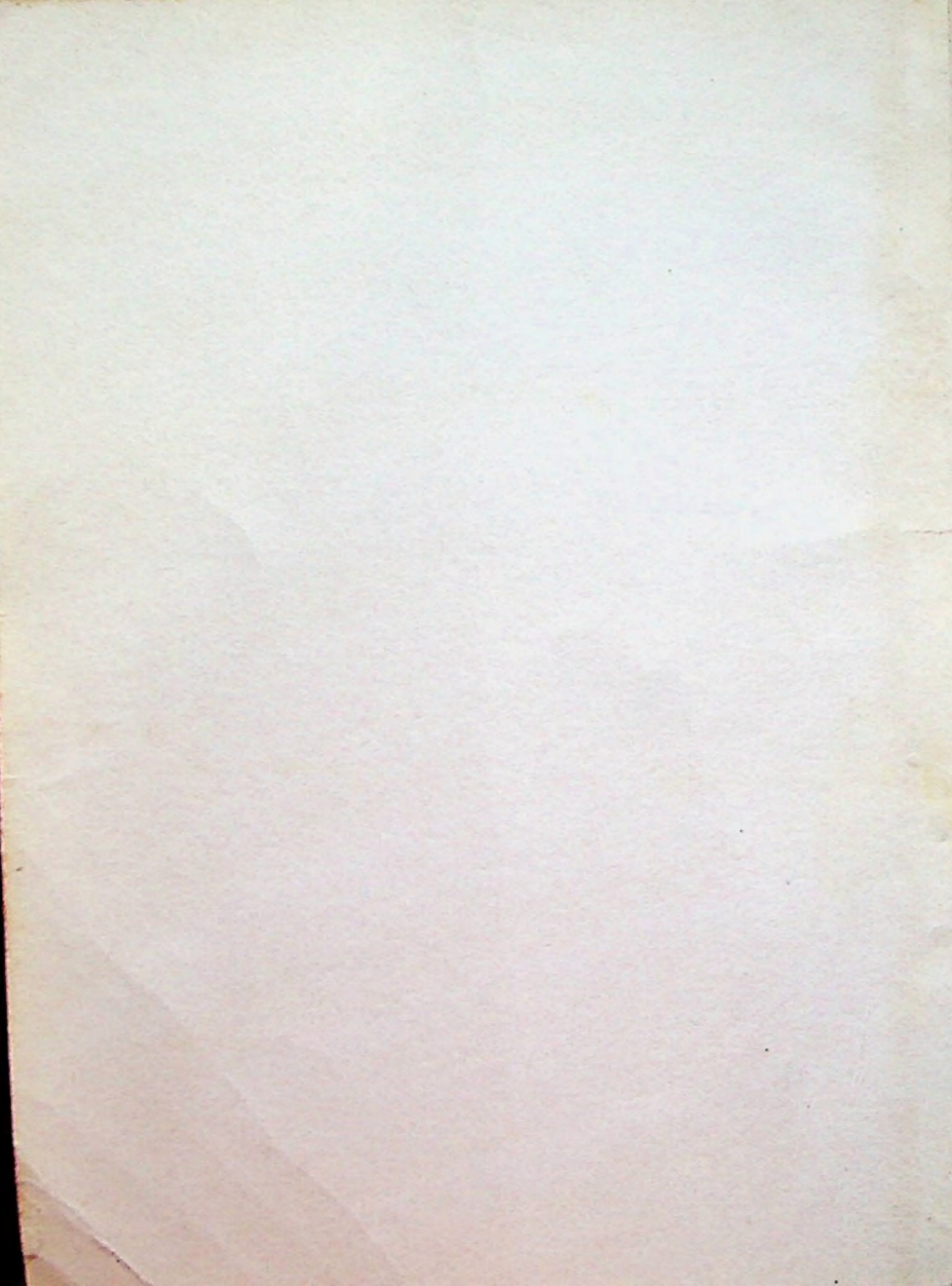


संस्कृत में विज्ञान

डॉ. विद्याधर शर्मा गुलेरी

संस्कृत भारती
देहली



श्री गुरुदेव के निशान

श्री गुरुदेव के निशान

गुरुदेव के निशान

गुरुदेव के निशान

गुरुदेव के निशान

संस्कृत में विज्ञान

डॉ० विद्याधर शर्मा गुलेरी

सहशिक्षासलाहकार (संस्कृत)
मानवसंसाधन विकास मंत्रालयः

संस्कृतभारती

देहली

Dr. VidyaDhar Sharma Guleri (11.04.1950)

Dr. Guleri is the grandson of Shri Pandit Chandradhar Sharma Guleri, a well-known Sanskrit-Hindi scholar.

He got his education first in Gurukul Kangri University, Haridwar, graduated with honors first class first in Sanskrit, post-graduated in M.A. (Hindi, Sanskrit) and Ph.D. in Sanskrit from Punjab University, Chandigarh. After that Dr. Guleri joined Education Department, Himachal Pradesh. In 1989, he was selected Education officer in the Ministry of Human Resource Development. At present he is working as Assistant Educational Adviser (Sanskrit) in Government of India. He has contributed one hundred and seventy articles in magazines and journals edited five journals as special number on specific subjects.

Other works written by Dr. Vidyadhar Sharma Guleri: -

1. Study of Vedic Female Deities in Vedic and Epic Literature
2. हिमाचल प्रदेश का संस्कृत साहित्य को योगदान
3. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी : व्यक्ति एवं अभिव्यक्ति
4. कर्मचन्द्र वंशोत्कीर्तनकं काव्यम् (संस्कृत काव्य)
5. वैदिक देव दर्शन
6. कांगडा के शक्तिपीठ एवं प्रमुख देवी पूजा स्थल
7. कुछ मेरी जो याद रहे (काव्य संग्रह)
8. श्री पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ग्रंथावली (भाग ४)
9. गुलेरी जी का पत्र-साहित्य
10. श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरिणां संस्कृत साहित्ये योगदानम्
11. Contemporary Sanskrit writing in India.

आत्मकथ्य

वर्ष १९८९ में संघ लोक सेवा आयोग द्वारा मानव संसाधन विकास मंत्रालय शिक्षा विभाग में शिक्षा-अधिकारी नियुक्त किए जाने पर जब मैंने स्व. डॉ. शंकरदयाल शर्मा के अध्यक्षत्व में केन्द्रीय संस्कृत मण्डल की बैठकों का समायोजन किया तब विदित हुआ कि संस्कृत की प्रोन्नति व विकास के लिए विज्ञान तथा संगणक के क्षेत्रों में कार्य किए जाने की नितान्त आवश्यकता है ।

केन्द्रीय संस्कृत बोर्ड की उपसमिति के द्वारा दी गई रिपोर्ट की क्रियान्विति भी न हो सकी अतः कई वर्षों से 'संस्कृत में विज्ञान' विषय पर चिन्तन मनन की प्रक्रिया में यह कमी शिद्दत से महसूस की जाती रही ।

जनवरी १९९७ में बंगलौर में आयोजित विश्व संस्कृत सम्मेलन में प्रधानमंत्री का वक्तव्य जो कि संस्कृत में वैज्ञानिक ज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता से सम्बन्धित था, को सुनकर संस्कृत में विज्ञान विषय पर कार्य करने का विचार और अधिक पुष्ट हुआ ।

मैं उल्लेख करना चाहूँगा कि विज्ञान का मैं अधिकारी विद्वान नहीं हूँ किन्तु भारतीय मनीषा, संस्कृत ग्रन्थों में पठन चिन्तन तथा मनन से जो तथ्य उद्घाटित होते रहे उन्हें जनमानस तक उजागर करने के लोभ का संवरण मुझसे संस्कृत वर्ष में सम्भव न हो सका ।

संस्कृत वाङ्मय में भौतिक रसायन गणित विज्ञान जीव विज्ञान, आयुर्वेद, संगीत, धनुर्वेद तथा सैन्य विज्ञान चिकित्सा, विमान एवं भूविज्ञान, खगोल, जल तथा शिल्प विज्ञान वास्तुकला, ज्योतिष, धातुविज्ञान, पर्यावरण, मौसम विज्ञान तथा संस्कृत में उपलब्ध ग्रन्थों में वैज्ञानिक साहित्य की सम्पदा और अधिक विस्तृत व्याख्याओं के लिए प्रतीक्षारत है । समानधर्मी चिन्तकों के लिए मैं इस कृति को निमन्त्रण पत्रवत् समझता हूँ ।

प्रकाशनम्

संस्कृतभारती

माता मन्दिर गली, झण्डेवाला

नई दिल्ली - ११० ०५५

© प्रकाशकस्य एव ।

प्रथममुद्रणम् - २००० प्रतिकृतयः

मूल्यम् - रु० ३५/-

मुद्रणम् -

ग्राफिक वर्ल्ड

१६८६, कुचा दखनि राय

दरिया गंज, नई दिल्ली - ६

Sanskrit Me Vijnan- A book about the Ancient Indian Science
written by Dr. Vidyadhara Sharma Guleri

Publisher - **SAMSKRITA BHARATI** - Mata Mandir Gali,
Jhandewala, New Delhi - 110 055, Tel. & Fax - 011 - 351 7689.

Pages - 38 + 156, Price - Rs. 35.00 First Print - August - 2000

Printed at : Graphic World, 1686, Kucha Dakhani Rai,
Dariya Ganj, New Delhi - 6

अनुक्रमणिका

संस्कृत में विज्ञान

प्रस्तावना

भाग क - संस्कृत का अध्ययन, संस्कृत में विज्ञान के स्रोत, संस्कृत भाषा में वैज्ञानिक साहित्य की सम्पदा, अध्ययन और अनुसन्धान पर दिए गए सुझाव, आधुनिक विज्ञान के विकास सूत्र, आयुर्वेद जीवन विज्ञान, खगोल शास्त्र और गणित कला और वास्तुकला । विज्ञान की अन्य शाखाएँ ।

भाग ख - वैदिक गणित

भारतीय गणित ज्ञान की आवश्यकताएँ , वैदिक गणित एक अध्ययन

भाग ग - संस्कृत साहित्य में अभियान्त्रिकी विज्ञान और प्रौद्योगिकी, प्राचीन भारत में प्रौद्योगिकी

भाग घ - वनस्पति विज्ञान चरक का वर्गीकरण, सुश्रुत का वर्गीकरण रसकोष (शस्यकोष) शस्यों के अंग जलका अवचूषण शब्दविकृति विज्ञान, आनुवंशिकता ।

भाग ङ - प्रकृति विज्ञान (Natural Science) ऋतम्, पञ्चभूत सिद्धान्त, परमाणु विज्ञान वैदिक विज्ञान में परमाणु ढांचा, भारतीय परमाणुवाद ।

भाग च - ज्योतिष और खगोलशास्त्र, ज्योतिष शास्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन - सिद्धान्त संहिता होरा ज्योतिष के प्रणेता आचार्य, तिथिगणना की वैज्ञानिकता, सुस्पष्ट वासर गणना, प्राचीन भारत के कालविभाजन, पृथ्वी का गोलत्व, सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण का सही कारण पृथ्वी की गतिशीलता, सूर्य के बारे में धारणा, सृष्टि की आयु की गणना, गुरुत्वाकर्षण शक्ति, प्रकाश की गति वैदिक खगोलशास्त्र वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका सूर्यसिद्धान्त का रचना काल, खगोल शास्त्र के अन्य आचार्य ।

भाग छ - आयुर्वेद, भाग ज - धातुविज्ञान, भाग झ - जन्तुविज्ञान,

भाग ञ - कृषिविज्ञान, भाग ट - पर्यावरण विज्ञान, भाग ठ - वैदिक आयुर्विज्ञान।

Dr. VidyaDhar Sharma Guleri (11.04.1950)

Dr. Guleri is the grandson of Shri Pandit Chandradhar Sharma Guleri, a well-known Sanskrit-Hindi scholar.

He got his education first in Gurukul Kangri University, Haridwar, graduated with honors first class first in Sanskrit, post-graduated in M.A. (Hindi, Sanskrit) and Ph.D. in Sanskrit from Punjab University, Chandigarh. After that Dr. Guleri joined Education Department, Himachal Pradesh. In 1989, he was selected Education officer in the Ministry of Human Resource Development. At present he is working as Assistant Educational Adviser (Sanskrit) in Government of India. He has contributed one hundred and seventy articles in magazines and journals edited five journals as special number on specific subjects.

Other works written by Dr. Vidyadhar Sharma Guleri: -

1. Study of Vedic Female Deities in Vedic and Epic Literature
2. हिमाचल प्रदेश का संस्कृत साहित्य को योगदान
3. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी : व्यक्ति एवं अभिव्यक्ति
4. कर्मचन्द्र वंशोत्कीर्तनकं काव्यम् (संस्कृत काव्य)
5. वैदिक देव दर्शन
6. कांगडा के शक्तिपीठ एवं प्रमुख देवी पूजा स्थल
7. कुछ मेरी जो याद रहे (काव्य संग्रह)
8. श्री पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ग्रंथावली (भाग ४)
9. गुलेरी जी का पत्र-साहित्य
10. श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरिणां संस्कृत साहित्ये योगदानम्
11. Contemporary Sanskrit writing in India.

आत्मकथ्य

वर्ष १९८९ में संघ लोक सेवा आयोग द्वारा मानव संसाधन विकास मंत्रालय शिक्षा विभाग में शिक्षा-अधिकारी नियुक्त किए जाने पर जब मैंने स्व. डॉ. शंकरदयाल शर्मा के अध्यक्षत्व में केन्द्रीय संस्कृत मण्डल की बैठकों का समायोजन किया तब विदित हुआ कि संस्कृत की प्रोन्नति व विकास के लिए विज्ञान तथा संगणक के क्षेत्रों में कार्य किए जाने की नितान्त आवश्यकता है ।

केन्द्रीय संस्कृत बोर्ड की उपसमिति के द्वारा दी गई रिपोर्ट की क्रियान्विति भी न हो सकी अतः कई वर्षों से 'संस्कृत में विज्ञान' विषय पर चिन्तन मनन की प्रक्रिया में यह कमी शिद्दत से महसूस की जाती रही ।

जनवरी १९९७ में बंगलौर में आयोजित विश्व संस्कृत सम्मेलन में प्रधानमंत्री का वक्तव्य जो कि संस्कृत में वैज्ञानिक ज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता से सम्बन्धित था, को सुनकर संस्कृत में विज्ञान विषय पर कार्य करने का विचार और अधिक पुष्ट हुआ ।

मैं उल्लेख करना चाहूंगा कि विज्ञान का मैं अधिकारी विद्वान नहीं हूँ किन्तु भारतीय मनीषा, संस्कृत ग्रन्थों में पठन चिन्तन तथा मनन से जो तथ्य उद्घाटित होते रहे उन्हें जनमानस तक उजागर करने के लोभ का संवरण मुझसे संस्कृत वर्ष में सम्भव न हो सका ।

संस्कृत वाङ्मय में भौतिक रसायन गणित विज्ञान जीव विज्ञान, आयुर्वेद, संगीत, धनुर्वेद तथा सैन्य विज्ञान चिकित्सा, विमान एवं भूविज्ञान, खगोल, जल तथा शिल्प विज्ञान वास्तुकला, ज्योतिष, धातुविज्ञान, पर्यावरण, मौसम विज्ञान तथा संस्कृत में उपलब्ध ग्रन्थों में वैज्ञानिक साहित्य की सम्पदा और अधिक विस्तृत व्याख्याओं के लिए प्रतीक्षारत है । समानधर्मी चिन्तकों के लिए मैं इस कृति को निमन्त्रण पत्रवत् समझता हूँ ।

अद्वैत वेदान्त प्रखर गुरुवर प्रो० राममूर्ति शर्मा, संस्कृत जगत के भीष्मपितामह डॉ० मण्डन मिश्र, सारस्वत साधक वरिष्ठ पण्डित प्रवर प्रो० सत्यव्रत शास्त्री, सहृदय संस्कृतज्ञ कृषि वैज्ञानिक डॉ० वी०आर० पञ्चमुखी धवल कीर्ति व बौद्धिक सम्पदा के धनी श्री किरीट जोशी संस्कृति के मूर्धन्य चिन्तक डॉ० रामकरण शर्मा तथा गीर्वाण वाणी निष्णात् प्रो० वाचस्पति उपाध्याय ने संस्कृत में विज्ञान पर वैचारिक प्रतिक्रिया सम्प्रेषण से मुझे न केवल आत्मिक सम्बल प्रदान करते हुए उपकृत किया है अपितु इनकी सहृदयता एवं वैचारिक अभिव्यक्ति लेखक-पाठक की विचारणा को दिशानिर्देश व गति देती रहेगी यह निश्चित है ।

डॉ० वीरेन्द्र मिश्र रीडर संस्कृत हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय में वैदिक आयुर्वेद प्रकरण में प्रदत्त सहयोग के लिए आभारी हूँ । यदि धर्मपत्नी कीर्तिनिधि एम०ए० पुत्र विकास शर्मा सिविल इंजीनियर तथा पुत्री माधवी मनीषा एम०ए० ने मुझे गृहस्थ की चिन्ताओं से मुक्त न रखा होता तो सम्भवतः यह कार्य कालान्तर में प्रकाशित हो पाता ।

सुधिजनों संस्कृत एवं विज्ञान के क्षेत्र में चिन्तक मनीषियों के समक्ष प्रस्तुत इस कृति में यत्किञ्चित् त्रुटियों तथा परिवर्तन की सम्भावनाओं के संकेत का स्वागत होगा ।

उत्तरापेक्षी

डॉ० विद्याधर शर्मा गुलेरी

सहायक शिक्षा सलाहकार (संस्कृत)

मानवसंसाधनविकास मन्त्रालय

शिक्षा विभाग, शास्त्री भवन-सी

नई दिल्ली - ११०००१

प्रस्तावना

संस्कृत में विज्ञान

भाग - क

संस्कृत भाषा विश्व की प्राचीनतम भाषाओं में से एक प्रमुख भाषा है। इसे साहित्य का सबसे बड़ा खंड प्राप्त करने का गौरव प्राप्त है। इसमें साहित्य की गूढ़ता एवं विविधता के दोनों गुण विद्यमान हैं। ३००० ई० पू० जबसे वैदिक द्रष्टा ऋषियों एवं मुनियों द्वारा प्रारम्भिक वैदिक मंत्रों एवं स्तोत्रों की रचना शुरू की गई उस समय से लेकर अब तक भारत के कोने-कोने में धर्म, भाषा, विज्ञान, दर्शन, मीमांसा, ललित साहित्य, विधि, राजनीति विज्ञान इत्यादि जैसे कई विषयों में साहित्य का निर्माण कार्य अबाध गति से अनवरत चलता रहा है। प्रारम्भिक साहित्य होने के नाते, साक्ष्य के तौर पर इसके पास जो महत्वपूर्ण अंश उद्धरण तथा संदर्भ उपलब्ध थे, उनमें क्षरण होता रहा है, फिर भी, पाण्डुलिपियों के रूप में इस साहित्य का जो स्वरूप विद्यमान है उसे व्यापक खंड के दिग्दर्शक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस तथ्य पर विशेष ध्यान देने की दिशा में एक नयी सूची ग्रंथ तैयार करने के लिए विचार करना होगा। इस सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य की कृतियों (मद्रास विश्वविद्यालय) के अनुसार लघु “क” के अन्तर्गत प्रविष्टियों को सूचीबद्ध करने के लिए एक वर्णानुक्रम पंजिका (रजिस्टर) तैयार किया गया है जिसके पहले खंड (१९६८) में बड़े आकार के ५०५ पृष्ठ हैं।

संस्कृत का अध्ययन

यद्यपि जैसे-जैसे समय बीतता रहा वैसे-वैसे इस साहित्य का प्राचीन परम्परागत ढंग से निर्माण, संरक्षण तथा अध्ययन अनवरत गति से बढ़ता रहा है। पिछले दोसौ वर्षों के दौरान ही संस्कृत साहित्य अध्ययन करने की उल्लेखनीय रुचि तथा विश्व-व्यापी चेतना जागृत हुई है। वस्तुतः भारत विद्या जिसमें संस्कृत भी शामिल है, वर्ष १७९४ में सर *विलियम जोन्स* द्वारा कलकत्ता में 'एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल' की स्थापना करके इसे एक आधुनिक शैक्षिक विषय के रूप में शुरू किए जाने की बात कही गई थी तथा वर्ष १७८६ में सोसाइटी के पहले ही इसकी घोषणा होने के पश्चात् यूरोपीय तुलनात्मक भाषा विज्ञान विषय को वास्तविक रूप से शुरू करने की भी बात कही गई थी।

“संस्कृत भाषा की जो अपनी प्राचीनता है उसमें इसके साहित्य की संरचना बड़ी बेजोड़ है। यह ग्रीक भाषा की तुलना में काफी परिपूर्ण, लैटिन भाषा की तुलना में उत्कृष्ट और परिष्कृत है। इसके अतिरिक्त इन दोनों भाषाओं की तुलना में संस्कृत में धातुओं और क्रियाओं की संख्या काफी अधिक है और यह भाषा व्याकरण की दृष्टि से सांयोगिक तौर पर सम्भावित रूप से इतनी कसी हुई है कि सतही ज्ञान रखने वाला कोई शिक्षाशास्त्री इसकी वास्तविक जाँच नहीं कर सकता है, शायद अब ऐसी बात नहीं रह गई है। यद्यपि इस तरह का तर्क 'कोथिक' तथा 'केल्टिक' दोनों दृष्टि से अब उतना महत्वपूर्ण नहीं है। संस्कृत भाषा का साहित्य विभिन्न मुहावरों तथा लोकोक्तियों से भरा हुआ है। प्राचीन फारसी भाषा भी इसी परिवार की भाषा मानी जाती है।”

इन दोनों घटनाओं का सम्बन्ध राज्य द्वारा शुरू किए गए कुछ अन्य उपायों से जैसा कि भारत तथा विदेश दोनों में ही भाषा, भाषा-विज्ञान, दर्शनशास्त्र, धर्म, इतिहास, पुरातत्त्व विज्ञान, कला आदि जैसे सम्बद्ध

विषयों के समर्थकों ने इसकी कल्पना की थी । भारत विद्या सम्बन्धी अध्ययन करने के लिए उन्हें प्रायः निष्काम भावना से अनुवर्ती कार्रवाई करने की दिशा में संस्थाओं की स्थापना एवं समितियों का संचालन करने की प्रेरणा प्राप्त हुई । निःसन्देह, संस्कृत भाषा इन सभी विषयों की जननी होने के नाते प्राच्य अध्ययन करनेवालों में इसका अध्ययन करने वालों की संख्या सर्वाधिक है । अधिकांश पाठ्यपुस्तकों का सम्पादन, अनुवाद एवं संस्कृत कृतियों का अनुशीलन (अध्ययन) प्रकाशित होता था । भारतीय तथा यूरोपीय भाषाओं के कई पत्र पत्रिकाओं में भी लघुतर अध्ययनों के नतीजे प्रकाशित होने शुरू हो गए थे ।

तथापि, इस प्रकार के सभी उत्साहपूर्ण कार्यकलाप में विज्ञान का क्षेत्र उपेक्षित हो गया जबकि संस्कृत साहित्य का प्रत्येक अन्य क्षेत्र लाभान्वित हुआ। इस क्षेत्र में संस्कृत की जो गरिमा और स्थिति थी उसकी तुलना में कोई खास बढ़ोत्तरी नहीं हुई। इसका स्पष्ट कारण यह है कि इसमें वैज्ञानिक विषयों के तकनीकी शब्दों की भरमार है, जिसके लिए इन शब्दों के पहचानने, उनके महत्त्व को समझने तथा प्रभावी ढंग से उनका अनुवाद करने की दिशा में पर्याप्त प्रयास किए जाने की जरूरत है । संस्कृत साहित्य का यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें उपर्युक्त सभी कार्य पूरे हुए । इस क्षेत्र में आने वाली दिक्कतें कम हुई तथा इस पर कार्य कम हुआ । फिर भी, संस्कृत साहित्य का क्षेत्र पर्याप्त समृद्ध तथा सम्भावित रूप से लाभप्रद है।

संस्कृत में विज्ञान के स्रोत :-

भारतीय जीवन दर्शन तथा साहित्यिक प्रस्तुति के कुछ पहलुओं की झलक भारतीय विज्ञान की स्रोत पुस्तकों में भी मिलती रही । तत्पश्चात् इस परम्परा का अनुसरण करते हुए, कई वैज्ञानिक विषयों में इसे स्थान देकर स्वतंत्र रूप से पेश किया गया जबकि कई अन्य स्रोतों को वैदिक पाठों,

उपनिषद् उपाख्यानों, कल्प पाठों, शुल्वसूत्रों, धर्म-साहित्य, अर्थशास्त्र, तंत्रों, इतिहासों, पुराणों, संग्रहों तथा कभी-कभी ललित साहित्यों में भी इनको शामिल किया गया था। पुराणों तथा तंत्रों के पूर्ण अध्याय दिए गए हैं अथवा अध्याय खंड के रूप में दिए गए हैं। इन अध्यायों को वार्तालाप शैली में प्रस्तुत किया गया है, जिसमें वार्तालाप करने वाले व्यक्तियों के तरह-तरह के विज्ञान सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर दिए गए हैं। उदाहरण के तौर पर यह कहा जा सकता है कि *शार्ङ्गधरपद्धतिचयनिका* में *उपवनविनोद* नामक शीर्षक के *चिन्तामणि* अथवा *सोमेश्वर-मानसोल्लास* में पर्याप्त वैज्ञानिक सामग्री शामिल की जानी चाहिए।

संस्कृत भाषा में वैज्ञानिक साहित्य की सम्पदा :—

भारत में संस्कृत भाषा में निर्मित वैज्ञानिक साहित्य की सम्पदा आशातीत समृद्ध रही है। वस्तुतः भारतीय पाण्डुलिपियों के अधिकांश भण्डारों की सूचियों की जाँच करने से उक्त कथन की पुष्टि होगी। केरल की ग्रंथ सूची और केरल आधारित *गणित ज्योतिष* और *फलित ज्योतिष*, (के.बी. शर्मा, विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियारपुर, १९७२) के अनुसार केरल नामक छोटे से भूखंड में केवल ज्योतिष विषय और तत्सम्बन्धी पाण्डुलिपियों की पंजिकाओं में ७५२ निर्मित पाठों का पता चला है। संस्कृत में वास्तविक विज्ञान की गणना (*फिलाडेल्फिया*, १९७० एफ एफ) और ज्योतिष सम्बन्धी इतिहास की अपनी पुस्तक *ज्योतिष शास्त्र* (विजवाडेन, १९८१) के पृष्ठ ११८ में कहा कि “इस समय भारत और इसके बाहर *ज्योतिषशास्त्र* के विविध पहलुओं की १,००,००० पाण्डुलिपियाँ हैं।”

विज्ञान के अन्य विषयों की तुलना में ये मामले उतने भिन्न नहीं हैं जितने होने चाहिए। सही मायने में, जो विद्वान् भारतीय विज्ञान के विषयों में अध्ययन तथा अनुसंधान करना चाहते हैं, उन्हें इस प्रकार का आश्वासन दिया जाना चाहिए।

अध्ययन और अनुसंधान पर दिए गए सुझाव

भारतीय वैज्ञानिक साहित्य के अध्ययन की उस पृष्ठभूमि पर जितना ध्यान दिया जाना चाहिए उस पर उतना ध्यान नहीं दिया गया है। अतः इस विषय पर अपनाए जाने वाले दृष्टिकोण के आधार पर कुछ सुझाव दिए जाने चाहिए।

इस संबंध में यह ज्ञातव्य है कि केवल पाँच से १० प्रतिशत ही वैज्ञानिक पाठ मुद्रित हुए हैं। दूसरे शब्दों में अध्ययन तथा अनुसंधान में रुचि रखने वाले विद्वानों के लिए ९०% से ९५% तक विज्ञान पाठ मुद्रित रूप में उपलब्ध नहीं हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि सार्वजनिक और निजी भण्डारों में उपलब्ध पाण्डुलिपियों के आधार पर पुस्तकों के संस्करण निकालने होंगे। इसके साथ-साथ आधुनिक विज्ञान के आधार पर सुव्यस्थित ढंग से अनुवाद और व्याख्या का कार्य शुरू करना होगा। आधुनिक विज्ञान से सम्बन्धित, पुस्तकों में समीक्षात्मक और तुलनात्मक दोनों अध्ययन शुरू किए जाने चाहिए। जैसे उपयोगी और आवश्यक उपस्कर, विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में पारिभाषिक शब्दों की शब्दावलियों और तीनों प्रकार की संदर्भिकाएँ, अर्थात् -

१. प्रत्येक शाखा की पुस्तकों की उपलब्ध पाण्डुलिपियों की ग्रन्थ सूची।
२. विभिन्न शाखाओं में संस्करणों, अनुवादों तथा टीका टिप्पणियों की ग्रन्थसूची।
३. पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित स्वतन्त्र और लेखों सहित सामान्य विशिष्ट और मूल - पाठ विषयक अध्ययन की एक ग्रन्थसूची। यदि इस ग्रन्थसूची में नए विवरणों को प्रविष्ट कर दिया जाए तो काफी लाभप्रद होगा।

एक सम्मिलित प्रयास

जब तक एक संस्कृतज्ञ तथा एक वैज्ञानिक के संयुक्त प्रयास के अनुसार, यथासम्भव, वैज्ञानिक पाठों पर कार्य होता रहेगा तब तक निःसन्देह संस्कृतज्ञ वैज्ञानिक तथा वैज्ञानिक संस्कृतज्ञ होगा। अब तक यह तर्क दिया जाता है कि संस्कृतज्ञ के पास परम्परागत कुशाग्रबुद्धि तो है लेकिन उन्हें भाषा के इस रूप में पर्याप्त ज्ञान की वह सुविधा उपलब्ध नहीं कराई गई है जिसमें पाठ को अनूदित कराया जाना, उसकी व्याख्या की जानी तथा अध्ययन किया जाना है। जबकि वैज्ञानिक के पास प्रौद्योगिकी तथा भाषा तो होगी लेकिन वह कुशाग्रबुद्धि नहीं होगा। दूसरे शब्दों में जब एक व्यक्ति का विचार होगा तो दूसरे व्यक्ति की अभिव्यक्ति भी होगी। अतः सिद्धान्त के रूप में दो सम्पूरक दलों को एकजुट करने के लिए यह आवश्यक सिद्ध होगा। वैज्ञानिक को अपने लाभार्थ पारम्परिक अध्येता की प्राचीन रीति को अभिव्यक्ति प्रदान करनी होगी और आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में समर्थन के लिए वैज्ञानिक संसार तथा विज्ञानोत्पन्न ज्ञान को सामान्य व्यक्ति द्वारा स्पष्ट करना पड़ेगा।

आधुनिक विज्ञान के विकास सूत्र :—

आधुनिक भारतीय विज्ञान के अध्ययन के लक्ष्यों में से एक लक्ष्य यह होना चाहिए कि इसके परिणाम आधुनिक विज्ञान की प्रगति के लिए उपयोगी सिद्ध हों। उदाहरणतः कैंसर के उपचारार्थ हल्दी तथा मधुमेह के लिए एक विशिष्ट प्रकार की पालक, पोई का उपयोग करना। यद्यपि, आरम्भिक भारतीय खोजों के अधिकाधिक उपयोग के लिए इनकी कुछ विलक्षणताओं की पहचान करना भी आवश्यक हैं।

एक तरफ, भारत में विज्ञान बहुत उपयोगी है। यह उन कठिनाइयों को हल करने के उद्देश्य से उत्पन्न किया गया है जिन्हें उस समय के लोग

अपने धार्मिक अथवा सामाजिक जीवन के विशिष्ट उद्देश्यों को पूरा करने में आने वाली कठिनाईयों का सामना करने के लिए उपयोग करते थे। यह विज्ञान विज्ञान के लिए नहीं है। भारतीय वैज्ञानिक पर इस दृष्टिकोण का यह प्रभाव पड़ा कि उन्होंने अपना कार्य उस चरण में समाप्त कर दिया जहाँ उनके अभीष्ट की पूर्ति हुई और अग्रिम अनुसंधान की तरफ नहीं बढ़े। आधुनिक वैज्ञानिकों के लिए यह आवश्यक है कि वे प्राचीन प्रतिपक्षियों (वैज्ञानिकों) ने जो कार्य छोड़ा था, उस कार्य को आगे बढ़ाएँ।

दूसरे, पूर्व में और पश्चिम में प्रयोग किए जा रहे वैज्ञानिक प्रलेखन के बीच एक प्रमुख अन्तर देखा गया है। पश्चिमी पद्धति बहिर्मुखता दर्शाती है जबकि पूर्वी पद्धति अन्तर्मुखता दर्शाती है। पश्चिम में, वैज्ञानिक आँकड़ों को नियत करने तथा चरणबद्ध रूप में कार्य करने, विस्तृत और तर्कसंगत रूप में करने के नियम की प्रथा अरस्तू (३८४-३२२ ई.पू.), इयूक्लिड, (३०० ई. पूर्व) और प्लोमी (१६८ ई. पूर्व) काल से ही चली आ रही है। केन्द्रीय एशिया के मध्ययुगीन वैज्ञानिक जैसे अल्-खौवारिज्मी (७८०-८५० ई.पूर्व) और अल्-बरूनी (९७३-१०५० ई. पूर्व) ने इसी प्रथा का अनुसरण किया और पश्चिम के आधुनिक वैज्ञानिकों जैसे कैपलर, न्यूटन के मामले में, उनके ड्राफ्ट लेखों तक को भी सुरक्षित रखा गया है। पाश्चात्य प्रलेखन की इस विशेषता से हमें इन वैज्ञानिकों के तर्कों तथा मानसिक स्थिति को धीरे-धीरे समझने में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त बाद के कुछ समय में विज्ञान के लिए विज्ञान के अध्ययन ने भी पश्चिमी सभ्यता में अपनी जड़े फैलाई।

दूसरी तरफ भारत में वैज्ञानिक प्रलेखन में मनोवैज्ञानिक प्रणाली की शैली का अनुसरण किया गया जिसमें वैज्ञानिकों को आँकड़े, तर्क कार्य पद्धति सम्पुट रूप में परिणाम तरीका तथा औचित्य को दर्शाना होता है। सूत्रों को लघु ओजस्वी वाक्यों, सूक्तियों, वाक्यों अथवा छन्दों के रूप में

लिया गया जिसके परिणामस्वरूप छात्रों को सूत्रों के लेखकों की कार्य-पद्धति तथा मानसिक स्थिति के बारे में अंधेरे में रखा गया। ऐसी स्थिति में लेखक भ्रमोत्पादक व्याख्या करते हैं और बहुत कम ऐसे लेखक होते हैं जो यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि किस सूत्र के निरूपण की आवश्यकता है। आधुनिक संस्कृतज्ञों और वैज्ञानिकों को गहन अध्ययन, समान शब्दों की तुलना तथा पारिस्थितिक साक्ष्यों द्वारा भारतीय विज्ञान को समझना होगा तथा आधुनिक विज्ञान के विकास की दिशा में अपने कार्य को और आगे बढ़ाना होगा।

इस संदर्भ में आधुनिक विज्ञान को उन्नत करने के मामले में विज्ञान की विभिन्न शाखाओं की संभावनाओं का मूल्यांकन किया जा सकता है।

आयुर्वेद-जीवन विज्ञान :—

विज्ञान की वह शाखा, जिसमें वैज्ञानिक ज्ञान को बढ़ाने की उच्चतम सम्भावना है और जो सार्वभौमिक उपयोगिता वाली है, भारतीय औषध, आयुर्वेद है। विशाल भारतीय उप महाद्वीप में वनस्पति और जीव जन्तुओं का अप्रतिम कोष है और इन दोनों का औषधियाँ तैयार करने के लिए प्रचुर प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ, यह विश्लेषण किया गया है कि चरक संहिता (ई.पू. १००) में पशु मूल के कुल १७७ तत्त्वों, ३४१ औषध पौधों तथा पौधा उत्पादों और ६४ खनिजों का औषध निर्माण के संघटनों के रूप में उल्लेख किया गया है।¹ उत्तरवर्ती साहित्य तथा आयुर्वेद शब्दकोशों में अन्य अनेक पशुओं, वनस्पतियों तथा खनिज तत्त्वों के औषधीय गुणों और नुस्खों सम्बन्धी प्रयोगों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है। यद्यपि इनमें से कुछेक का वैज्ञानिक ढंग से पता लगाया गया है और

-
1. Charaka Samhita: A Scientific Analysis, by priyaranjan Ray & Hirendra Nath, Indian National Science Academy, New Delhi, 1993, P.P. 38-85.

रासायनिक रूप से विश्लेषण किया गया है तथापि इनमें से अधिकांश का अभी भी विश्लेषण किया जाना है और उनके इलाज सम्बन्धी गुणों को सत्यापित किया जाना है। आयुर्वेद साहित्य में जिसका अधिकांश अभी भी पाण्डुलिपि के रूप में है, कतिपय पाठ हैं जिनमें विशिष्ट इलाज के लिए एक भूमिका अथवा एकल औषधि का निर्धारण किया गया है। इनमें से प्रत्येक भूमिका में इलाज सम्बन्धी तत्त्व की पहचान तुलनात्मक रूप से सरल होनी चाहिए। पुनः खनिजों के मामले में वाग्भट्ट (१२वीं शती ई.पू.) ने अपने *रसरत्नकोश* (अध्याय - ११/ रत्नानि) में नगों के औषधीय पक्षों और इनमें से प्रत्येक में इलाज संबंधी तत्त्व और तैयार की गई औषधियों के इलाज सम्बन्धी गुणों का उनकी राख का उपयोग करते हुए विस्तारपूर्वक चर्चा की है। नगों के चिकित्सीय गुणों की वैज्ञानिक ढंग से जांच करना उपयोगी हो सकता है। यह स्थापित किया गया है कि 'लिजरडाईट' कहा जाने वाला नग-समान खनिज 'फ्लुओरोसिस' रोग का एक मात्र प्रभावी उपचार है। इसी कारण, नियंत्रित स्थितियों में भारतीय और प्राच्य साहित्य में इलाज के रूप में निर्धारित सभी नमों के चिकित्सीय गुणों की वैज्ञानिक ढंग से जांच करना उपयोगी हो सकता है²।

खगोलशास्त्र और गणित :—

आयुर्वेद के विषय में, खगोल शास्त्र और गणित ने भारत में अपने विकास के दौरान विभिन्न कार्यों के प्रति अनेक विचार और दृष्टिकोण प्रदान किए हैं जिनमें से अनेक संस्कृत जानने वाले गणितज्ञों द्वारा और मनन योग्य हैं। उदाहरणार्थ यद्यपि पश्चिमी *त्रिकोणमिति* में दायें कोण वाले त्रिकोण में कर्ण के कोण के विपरीत पक्ष के अनुपात के रूप में कोण *आईन* की परिभाषा दी गई है, चाप के भारतीय *फाईन* की परिभाषा संदर्भित वृत्त में दुगने चाप की परिधि के आधे के रूप में की गई थी, वृत्त का केन्द्र

-
2. Proc.of the fluorosis Symposium, 2-5 Oct. 1974 Hyderabad, 1974.

त्रिज्या अथवा तीन चिह्नों का साइन हो जाता है, अर्थात् साइन टोटस (पूर्ण अथवा पूर्ण साइन)। अब जैसा कि विभिन्न दृष्टिकोणों से गणना की गई है साइन टोटस के लिए भारतीय त्रिकोणमिति में कुल २५ मूल्यों का प्रयोग किया गया है³। इन मूल्यों के विश्लेषणात्मक अध्ययन और प्राच्य की पद्धतियों से इस मामले में नई अन्तर्दृष्टि प्राप्त होगी। पी-१ की तर्कहीनता, जो किसी वृत्त के व्यास और परिधि के बीच सम्बन्ध हैं, के अन्य उदाहरण के तौर पर यह ध्यान में रखना रुचिकर है कि लैम्बर्ट (१९७१ ई.पू.) और लेइबनिट्ज (१६७३ ई.पू.) द्वारा प्रदर्शित पी-१ की शक्ति श्रृंखला को तीन सौ वर्ष से भी अधिक पहले संग्रह (१३५०-१४१० ई.पू.) के माधव द्वारा पहले ही से प्रतिपादित किया जा चुका था। भारतीय गणितज्ञों ने विभिन्न पद्धतियों से लेकर पी-१ के मूल्य के लिए करीब-करीब एक दर्जन सूत्र प्रतिपादित किए हैं। आधुनिक गणित में इन सूत्रों के तर्क वितर्क से गणितज्ञों को गणित संबंधी चिंतन⁴ के नये आयाम प्राप्त हुए हैं। गणित पाठों के एक टिप्पणीकर्ता सूत्र स्वरूपों की व्याख्या का अतिरेक कर जाते हैं और इन सूत्रों को निर्धारित करते हुए तर्क देते हैं जो भारतीय गणितज्ञों के मानसिक कार्य को समझने के लिए आधुनिक छात्रों की सहायता कर सकते थे। अतः केरल के शंकर (१५००-१५६० ई.पू.) द्वारा नीलकंठ

3. R.C. Gupta, 'Indian values of the sine Totus', Jl. of Hist. of Indian Science, 13.ii (Nov.1978) 125-41.
4. K.V. Sharma, A History of the Kerala School of Hindu Astronomy, Vishveshvaranand Inst., Hoshiarpur, 1972, PP.125-41 K.Bala Gangadharan, 'Mathematical analysis in Mediaeval Kerala', Proc. of the Seminar on the Scientific Heritage of India, Govt. Skt. College, Tripurithura (Kerala), 1-3 March, 1990.

साम्यजी (१४४३ ई.पू. मे जन्म) के तंत्र संग्रह⁵ पर की गई टिप्पणी, जिसका शीर्षक युक्तिदीपिका (भौगोलिक तर्कों की दीपक) है जो “अंकों का सिद्धान्त”, भाग, वर्ग तथा वर्ग मूल, फ्रैक्शन्स, तीन का नियम, डायोफैन्टाइन इक्वेशन (कुट्ट कर) प्राकृतिक अंकों का जोड़, वर्गों तथा क्यूबों, जोड़ का जोड़, त्रिकोणों से सम्बन्धित नियमों, वृत्तों तथा वृत्तीय चतुर्वर्गों तथा किसी परिधि के क्षेत्रफल के व्यापक कर्ता प्रदान करती है। यहीं टिप्पणीकर्ता, भास्कर की लीलावती⁶ पर टिप्पणी करते हुए, वर्ग बनाने, वर्ग मूल, धनमूल, फ्रैक्शन, फ्रैक्शन्स के फ्रैक्शन्स, सम्बद्ध तथा असम्बद्ध फ्रैक्शन्स, फ्रैक्शन्स के गुणा तथा भाग, वर्गों सहित कार्य, तीन के नियम, दायें कोण में पक्षों तथा हाइपोटेन्यूस, त्रिकोण के क्षेत्रफल, वृत्तीय चतुर्वर्ग तथा परिधि के क्षेत्रफल तथा वाल्यूम के तर्क देता है। इसमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन दृष्टिकोणों को और दूर तक ले जाने और इनका उपयोग संस्कृत जानने वाले गणितज्ञों⁷ द्वारा कहीं और करने के लिए नई दिशाएँ प्रदान करता है।

-
5. Tantrasangraha with Com, ed. by K.V. Sharma, Vishveshvaranand Institute, Hoshiarpur, 1972.
 6. Lilavati of Bhaskara with Com, ed. by K.V. Shauma, Vishveshvaranand Institute, Hoshiarpur, 1974.
 7. On this Subject, see also T.A. Saraswati, 'Development of mathe-matical ideas in India', Indian Journal of History of Science, 4(1969) 59-78.

कला और वास्तुकला :—

संस्कृत जानने वाले वैज्ञानिक के लिए एक अन्य प्रभावी विषय है शिल्पशास्त्र जैसा कि संस्कृत पाठों में प्रतिपादित किया गया है। पर्वियों में शामिल वास्तुकला तथा अभियान्त्रिकी की तुलना किसी भी प्रकार से इन क्षेत्रों में आधुनिक प्रगति से नहीं की जा सकती। परन्तु आधुनिक वास्तुकला तथा अभियान्त्रिकी की भी सूचना एवं तकनीकी योग्यता में सूक्ष्म भेदों को जोड़ा जा सकता है। नवीन संरचनाओं तथा निर्माणों के अलावा, श्रीकुमार के शिल्परत्न और अनेक प्रकार के सीमेन्ट मिश्रणों तथा संलग्नों को तैयार करने की पद्धति का वर्णन करते हैं जो आधुनिक फैक्टरियों में निर्मित मूल्यवान भवन सामग्री के लिए प्रभावी प्रतिस्थापन हो सकती हैं। शिल्प पाठों में निर्धारित भवन प्रक्रियाओं के लिए, जिनकी जांच और उपयोग उन आधुनिक अभियन्ताओं द्वारा किया जा रहा है जिनको संस्कृत शब्दावली की पूर्ण जानकारी है और भवन सामग्री की पहचान की क्षमता है और प्राचीन पाठों में निर्धारित मिश्रण तैयार करने की क्षमता है, अति लाभप्रद है।

विज्ञान की अन्य शाखाएं :—

अन्य क्षेत्रों में जिन मुद्दों के निरूपण और पूर्वानुमान की पूर्ण रूप से जांच की जानी है उन्हें नकुल का अश्ववैद्यक, शालिहोत्र पालकाप्य का हस्ति आयुर्वेद मिसोटा प्राकृतिक चिकित्सा और कायाकल्प प्रक्रियाएं, श्वानशास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र, ज्योतिष विज्ञान, मनोविज्ञान, अतिरिक्त बोध चेतना आदि कार्यों में उद्धृत पशु विज्ञान का उल्लेख करें। प्रासंगिक संस्कृत पाठों में निर्धारित इन विषयों पर उद्धरणों से संस्कृत के ज्ञान वाले वैज्ञानिकों द्वारा जांच किए जाने के लिए भी अन्य क्षेत्रों का पता लगाया जा सकता है।

निष्कर्ष : —

१. पाण्डुलिपि पुस्तकालयों तथा निजी धरोहरों में बड़ी संख्या में संस्कृत में विज्ञान पाण्डुलिपियाँ संरक्षित हैं ।
२. १० से १५ प्रतिशत उपलब्ध पाठ पाण्डुलिपि के रूप में अध्ययन हेतु उपलब्ध नहीं कराए गए ।
३. उनके साहित्यिक और ऐतिहासिक मूल्य के अलावा, ये पाठ आधुनिक विज्ञान को बढ़ाने में सहायक हो सकते हैं ।
४. ऐसे संस्करण और अध्ययन के लिए संस्कृतविदों और वैज्ञानिकों के सामूहिक प्रयास लाभप्रद होंगे अथवा दोनों सामूहिक रूप से प्रयास करें ।
५. यह अनिवार्य है कि संस्कृत में अप्रकाशित वैज्ञानिक सामग्री को आलोचना संस्करणों में जारी किया जाए और दोनों के लाभार्थ आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में इसका अध्ययन किया जाए ।

यह आशा की जाती है कि संस्कृतविद और वैज्ञानिक पर्याप्त संख्या में आगे आएँगे और आलोचनात्मक सम्पादन तथा संस्कृत में कई वैज्ञानिक पाठों का अध्ययन कार्य करेंगे जिसमें ध्यान देने की जरूरत है।

वैदिक गणित

भाग- ख

कुछ हद तक वैदिक गणित भ्रामक शीर्षक है । क्या इसका अर्थ है - वेदों में गणित है अथवा वैदिक युग (वैदिक युग उपयुक्त रूप से परिभाषित नहीं है।) के दौरान गणित अथवा पाश्चात्य अथवा विदेशी संकल्पनाओं के बिना वैदिक संस्कृत की वास्तविक परम्पराओं में प्राचीन भारत में विकसित गणित और सन्निकट विगत में और विकसित गणित ?

उक्त मुद्दों को तय करने में गम्भीर अध्येताओं में काफी मतभेद है । इसके अतिरिक्त इस मुद्दे के साथ जुड़ी हुई कुछ और गम्भीर समस्याएँ हैं ।

गोवर्द्धन मठ, पुरी के शंकराचार्य जगद्गुरु स्वामी श्री भारती कृष्ण तीर्थजी द्वारा लिखित "वैदिक गणित" नामक पुस्तक की विषयवस्तु में उनके अनुसार ये सभी अथर्ववेद के परिशिष्टों में निहित है । परन्तु कुछ अध्येताओं में इस आधार पर विवाद है कि जी० बी० बोलिंग और जे० वोन नेगे लेन (लेई पिजिंग १९०९-१०) द्वारा सम्पादित अथर्ववेद के ज्ञात परिशिष्टों में इनका उल्लेख नहीं है । इसके साथ यह मानना भी कठिन है कि यह कार्य श्रमसाध्य है। कुछ लोग तो इसे स्वामी जी की अपनी खोज मानते हैं । कुछ लोगों का यह दावा है कि ऐसे सूत्रों का पता इस पुस्तक के प्रकाशन से पूर्व ही चलता है ।

३. वर्गीकृत सूत्रों के रूप में ज्ञान के विनिमय की प्राचीन भारतीय पद्धति की वजह से ज्ञान के लेखक प्रायः अज्ञात होते हैं और प्रायः वर्गीकृत नहीं होते।

इसके परिणामस्वरूप, पश्चिमी-देशवासी की दृष्टि में भारत से प्राप्त होने वाले ज्ञान का स्रोत अक्सर बेबीलोन, ग्रीस और यहां तक कि यूरोप भी माना गया ।

४. संस्कृत भाषा के योग्य विद्वानों तथा अनेक अप्रकाशित प्राचीन भारतीय हस्तलिपियों के संकलन तथा आम जनता तक इस मामले को लाने के लिए तकनीकी शब्दावली के जानकारों का अत्यधिक अभाव है । यदि कोई पश्चिम देशवासी ऐसी हस्तलिपियों पर कोई परियोजना कार्य करता है और अपना मत देता है तो भारतीय विद्वानों द्वारा उसे सामान्यतयः अंतिम वाक्य के तौर पर मान लिया जाता है ।

५. इससे संबंधित और महत्वपूर्ण मामले यह हैं कि जाति अथवा राष्ट्रों के प्रति बिना किसी पक्षपात अथवा पूर्वाग्रह के ज्ञानक्षेत्र में अपना योगदान

करने वाले प्राचीन भारतीय योगदानों का निर्धारण किया जाए। सहानुभूतिरहित पश्चिमी इतिहासकारों ने हमें यथोचित श्रेय नहीं दिया और दुर्भाग्यवश उनके द्वारा निकाले गए निष्कर्षों के उनके भारतीय प्रतिपक्षों द्वारा बिना पर्याप्त छानबीन के शीघ्र अनुमोदन प्राप्त हो जाता है।

६. *सिन्धु घाटी सभ्यता* (२५०० ई. पू. - १७५० ई. पू.) की खुदाई और उसके साथ ही *दशमलव प्रणाली*, *ज्यामितीय आँकड़ों के प्रयोग* और बाद में *शुल्ब सूत्रों* (८०० - ५०० ई. पू.) (जो वैदिक कर्मकांडों, मन्दिरों, सड़कों तथा भवनों के निर्माण में ईंटों के कार्यों के लिए अपेक्षित गणित से सम्बन्धित हैं।) के कोडीकरण से उन दिनों में गणित के ज्ञान के क्षेत्र में भारत का आधिपत्य स्थापित होता है।

७. 'शून्य' का सिद्धान्त '*निर्वाण*', '*वैराग्य*' और '*शून्यवाद*' (निहिलिज्म) वैदिक संस्कृति की अभूतपूर्व रचना है। *दशमलव* और '*प्लेस वैल्यू*' प्रणाली के साथ 'शून्य' से इस प्रकार की गणितीय '*पूर्णता*' प्राप्त हुई जो गणित के पूरे इतिहास में अभूतपूर्व है और इसे विश्व समुदाय द्वारा '*लैप्लेस*' से समान ही मान्यता प्राप्त होनी चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। पश्चिमी देशवासियों ने इसे आरम्भ में '*अरबी प्रणाली*' की संज्ञा दी और बाद में '*हिन्दू अरबी*' का नाम देना स्वीकार किया जबकि उनके पास ७७० ई. पू. में अरबी में *ब्रह्म-गुप्त सिद्धान्त* के अनुवाद का अकाट्य प्रमाण मौजूद है।

८. विश्व भर में कितने व्यक्ति अथवा गणितज्ञ निष्कर्षात्मक तौर पर यह जानते हैं कि *नेगेटिव इंटीजर्स एल्जेब्रा*, *एल्जेब्रिक समीकरण* (डायफेक्टाइन समीकरण सहित) *पाइथागोरस थ्योरम* इत्यादि के आविष्कारक कौन हैं? यदि हम यह जानते हैं कि *पाइथागोरस थ्योरम* का अस्तित्व *पाइथागोरस* से पूर्व था तो क्या फिर भी हम उसे *पाइथागोरस* के नाम से पुकारेंगे?

९. आविष्कारक का दुर्भाग्य इसी तथ्य में छुपा हुआ है कि हालांकि 'कैल्क्यूलस' (डिफरेंशियल और इन्टीग्रल) की खोज पहले माधव (१३ वीं शताब्दी ई.स.) द्वारा की गई थी, क्या हम फिर भी इसका श्रेय न्यूटन और लाइबनिश को देंगे? यह इस तथ्य के बावजूद किया जा रहा है कि ब्रिटिश सिविल अधिकारी सी. एम. विहिश (१३) ने १८३५ में तथा लगभग १०० वर्ष बाद स्वर्गीय प्रो. सी. टी. राजागोपाल ने इस ओर ध्यानाकर्षित किया। क्या हम अभी भी 'इवेलूएशन' की खोज का श्रेय ग्रिगोरी को देंगे जबकि हम यह पूर्ण रूप से जानते हैं कि ३०० वर्ष पूर्व ही माधव ने इसे प्रमाणित किया था?

१०. कौन जानता है कि किन-किन पक्षों पर भारत को अपनी समृद्ध विरासत और संस्कृति के साथ ज्ञान-क्षेत्र के योगदानों पर उन बौद्धिक संपत्ति और अधिकारों से वंचित कर दिया गया, जिसका वह अधिकारी था। स्वामीजी का यह दावा कि संपूर्ण गणित का स्रोत वेद थे तथा नायगीबॉयर, डेविड पिंग्री, कोलबुक, थीबौट, फैन दर बैर्डन का यह दावा कि भारतीयों द्वारा प्रमुख गणितीय सिद्धान्त बेबीलोन और ग्रीक से लिए गए थे, अत्यधिक स्वानुभूतिमूलक है।

भारतीय गणित ज्ञान के क्षेत्र की आवश्यकताएँ :—

१. प्राचीन और नवीनतम दोनों ही विश्व परिदृश्य को ध्यान में रखते हुए प्राचीन भारतीय गणित शास्त्र का प्रामाणिक और अधुनातन इतिहास तैयार करने की तात्कालिक आवश्यकता है।

२. गणितशास्त्र विषय पर संस्कृत और क्षेत्रीय भाषाओं में उपलब्ध सभी शास्त्रीय पाण्डुलिपियाँ प्राप्त की जायें और विशेषज्ञों की राय तथा आधुनिक शब्दावलियों सहित अंग्रेजी में परिवर्तित की जायें और उन्हें केन्द्रीय पुस्तकालय में रखा जाये ताकि विश्व की जनता हमारे योगदान का मूल्यांकन कर सके।

इस दिशा में प्रोफेसर टी. एस. भानु मूर्ति द्वारा लिखित पुस्तक 'ए माडर्न इंट्रोडक्शन टू एन्शीएंट इंडियन मैथमैटिक्स' प्रशंसनीय प्रयास है ।

३. उपर्युक्त विषय पर अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में किये गये ऐतिहासिक साहित्य को अंग्रेजी में अनूदित करने को सुनिश्चित करना ।

४. सभी गणितीय निष्कर्षों को एक क्रम में दर्शाते हुए और नक्षत्र विज्ञान, ज्योतिष, भौतिक विज्ञान, वास्तुविद्या जैसे विषयों तथा वैमानिकी जैसी अन्य रचनाओं में सभी अनुप्रयोगों को दर्शाते हुए-चार्ट, स्लाइड इत्यादि तैयार करना।

५. उपर्युक्त स्थलों पर भारत के योगदान का समावेश करते हुए, सामान्यतः भारत के प्राचीन गणितशास्त्र को अधिक महत्त्व और प्रासंगिकता प्रदान करते हुए स्कूलों और कालेजों के लिए पाठ तैयार करना ।

६. स्वामी जी की पुस्तक या किसी अन्य प्राचीन भारतीय पाठों में उपलब्ध गणना की तीव्र विधियों को स्कूली पाठ्यचर्या में प्रारंभ करने के लिए प्रतिष्ठित संस्थाओं का गम्भीरता पूर्वक जांच करनी चाहिए । कुछ पश्चिमी देश ऐसा पहले ही कर चुके हैं ।

७. शुद्ध तात्त्विक अर्थ में, वेद (विद्- जानना) मोक्ष के तात्कालिक लक्ष्य को प्राप्त करने का मौलिक ज्ञान है ।

तार्किक बनने के लिए, वैदिक गणित के अर्थ में पश्चिमी या अन्य सह-संकल्पनाओं को अपनाये बिना, वैदिक संस्कृति की शुद्ध परंपरा में प्राचीन समय से लेकर आज तक विकसित सभी गणितीय ज्ञान समाहित होना चाहिए । 'शून्य', दशमलव और स्थान-महत्त्व प्रणाली, बीजगणित, समता सिद्धान्त, ज्यामितीय विज्ञान, नक्षत्र विज्ञान, ज्योतिष मूल्यांकन द्वितीय (उदाहरणार्थ आर्य भट्ट प्रथम (४७६ ई०) वराहमिहिर (५०५ ई०) भास्कर (प्रथम ६०० ई०) ब्रह्मगुप्त (५९८ ई०) महावीराचार्य (८५० ई०) भास्कर द्वितीय (१११४ ई०) के हाथों और माधव (१३ वीं शताब्दी) और

नीलकंठ (१५ वीं शताब्दी) द्वारा गणना के आविष्कार को अंतिम रूप देकर) जैसी मूल संकल्पनाओं के विकास में वैदिक संस्कृति का महत्वपूर्ण संख्या के लिए वैदिक गणित एक आधार है ।

८. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को उपर्युक्त मुद्दों को निपटाने और उपेक्षा तथा अज्ञान के कारण वैदिक गणित को अज्ञान के अंधकार से बाहर निकालने के लिए एक सामूहिक परियोजना प्रारम्भ करने के लिए एन० बी० एच० एम०, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, भारतीय तथा क्षेत्रीय गणितीय संस्थाओं, अन्य प्रतिष्ठित संस्थाओं तथा व्यक्तियों से गंभीरता पूर्वक सहयोग करना चाहिए । इस महत्वपूर्ण कार्य को संपन्न करने के लिए परम्परागत संस्कृत विद्वानों को आधुनिक विद्वानों के साथ हाथ से हाथ मिलाकर कार्य करना है ।

वैदिक गणित - - एक अध्ययन

समग्र विश्व की यह सर्वाधिक अवधारणा है कि अधिकांश गणितीय ज्ञान का उद्भव भारत में हुआ भारतीयों का गणितीय ज्ञान वैदिक काल से ही देखने को मिलता है । अंक गणित, ज्यामिति, और त्रिकोणमिति के क्षेत्र में बहुत सारे आविष्कार प्राचीन भारतीयों के द्वारा किये गये ।

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा ।

तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम् ॥

- वेदांग ज्योतिष - ४.

वेदांग ज्योतिष का यह श्लोक बताता है कि जिस प्रकार मयूरों में शिखायें तथा सपों में मणियाँ सर्वोच्च स्थान शीर्ष पर रहते हैं उसी प्रकार वेदांग शास्त्रों में गणित का स्थान सर्वोपरि है ।

संहितायें कल्पसूत्र और वेदाङ्ग उस समय गणितीय ज्ञान के बारे में पर्याप्त जानकारी देते हैं। यजुर्वेद के शुल्बसूत्रों (या शुल्बसूत्रों) में गणना अंकगणितीय प्रक्रिया, सरल (ऋजु) रेखीय आकृति, रेखागणितीय प्रमेय और बीजगणितीय प्रमेय-इन के सम्बन्ध में जानकारी का अगाध संग्रह है। अत्यन्त अमूल्य शुल्बसूत्रों के नाम से यह ज्ञात होता है कि अपस्तम्भ, कात्यायन और मानव उस काल के गणितज्ञ ऋषि थे।

वैदिक काल के विद्वानों की यह गणितीय परम्परा बाद के काल में भी चली आयी जिससे विख्यात गणितज्ञों की सृष्टि हुई और जिनका योगदान गणितविद्या के विस्तार गहराई और गुणवत्ता की दृष्टि से उत्कृष्ट था।

आर्यभट्ट प्रथम (ई.स. ४७०) भास्कर प्रथम (ई.स. ६००), ब्रह्मगुप्त (ई.स. ५९८) महावीर (ई.स. ८५०), आर्यभट्ट द्वितीय (ई.स. ९५०), श्रीधराचार्य (ई.स. ९९१), श्रीपति (ई.स. ९९९), भास्कर द्वितीय (ई.स. १११४), नारायण (ई.स. १३५०) उस काल के विख्यात गणितज्ञ थे। वैदिक स्रोतों के अलावा बकशली पाण्डुलिपि (ई.स. २०००) सब से पुरातन गणितीय पाण्डुलिपि है। यह पाण्डुलिपि भूर्जत्वक् (भूर्जवल्कल) पर लिखी गयी। यह पाण्डुलिपि पेशावर (आज पाकिस्तान में है) के बकशली नामक स्थान से १८८१ में प्राप्त हुई।

अंकगणित

ब्रह्मगुप्त के अनुसार सभी अंकगणितीय प्रक्रियाएँ बीस तरह की प्रक्रियाएँ और आठ तरह के प्रतिगणित संकल्पनाओं में निहित हैं।

परिकर्मविंशतिं यः सङ्कलिताद्यां पृथग्विजानाति।

अष्टौ च व्यवहारान् छायान्तान् भवति गणकः सः। बीस प्रक्रियाएँ इस प्रकार हैं -

(१) संयोग (जोड़) (२) वियोग (घटाव) (३) गुणा (४) भाग (५) वर्गमूल (७) घन (८) घनमूल (९-१३) समानयन (reduction) के पाँच नियम (जो भिन्न के पाँच मानक प्रकार से सम्बद्ध है) (१४) तीन का नियम-त्रैराशिक (१५) तीन का प्रतिलोम नियम-व्यस्त त्रैराशिक (१६) पाँच का नियम (१७) सात का नियम (१८) नौ का नियम (१९) ग्यारह का नियम और (२०) विनियम अथवा आदान-प्रदान ।

आठ संकल्पनाएँ इस प्रकार हैं -

(१) मिश्रण (२) अनुक्रम या श्रेणी (३) समतल आकृतियाँ (४) उत्खनन (५) संग्रह (६) आरा (७) टीला और (८) छाया

विश्व को भारतीय गणितज्ञों का सबसे बड़ा योगदान

वैदिक काल के गणितज्ञों का विश्व को सबसे बड़ा योगदान गणना और उसकी संख्याओं का आविष्कार तथा दशमान पद्धति है । उन्होंने १० को गणना प्रणाली का आधार बनाया और दशमान पद्धति का आविष्कार किया । दशमान पद्धति में भी सबसे अधिक महत्त्व शून्य का है । विज्ञान की और विशेषतः संगणक क्षेत्र की जो प्रगति आज हो रही है उसकी कल्पना भी शून्य के बिना नितान्त असम्भव है ।

श्लेगल (Schlegel) के अनुसार, भारतीयों द्वारा किये गये आविष्कारों में वर्णमाला के बाद 'दाशमिक स्थानमान पद्धति' का आविष्कार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । दाशमिक स्थानमान पद्धति शून्य के प्रयोग पर आधारित है। यदि शून्य और दाशमिक स्थानमान पद्धति का आविष्कार न हुआ होता तो भारतीय अंक, अन्य अंकों से न तो श्रेष्ठ समझे जाते और न ही उनका सर्वत्र आदर होता।

शून्य का व्यापक महत्त्व

प्रोफेसर जी.वी. हेल्सहेड के अनुसार शून्य के आविष्कार के महत्त्व की प्रशंसा में जितना भी कहा जाय वह कम है। शून्य के आविष्कर्ता भारतीयों ने शून्य को स्थान, संज्ञा, प्रकृति और संकेत प्रदान करने के साथ-साथ इसे उपयोगी शक्ति भी प्रदान किया। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि शून्य का आविष्कार कब हुआ। परन्तु इसका सर्वप्रथम प्रयोग पिंगल के 'छन्दः सूत्र' में मिलता है। इसकी रचना लगभग २०० ई.पू. हुई थी। शून्य का आविष्कार वैदिक ऋषि गृत्समद ने किया था।¹

यह शून्य ऐसा एक संकेत है जो 'कुछ नहीं' (शून्यता) का प्रतिनिधित्व करता है। 'कुछ नहीं' का संस्कृत शब्द शून्य है। शून्य का अरेबीय नाम सिफिर' (Sifir) है। यह सिफिर मध्यकालीन लेटिनभाषा में 'सिफ्रा' (Cifra) या 'जेफर्म' (Zefirm) बना। इटालियन भाषा में यह जेफर्म शब्द 'जेफिरो' (Zefiro) बना। अन्य यूरोपीय भाषाओं में 'जीरो' (Zero) बना² ऐसा ही सिफ्रा (Cifra) सिफर बना।

दशमलव पद्धति या दाशमिक स्थानमान पद्धति

दाशमिक स्थानमान अंक-पद्धति के प्रथम प्रयोग के विषय में 'हिन्दू गणित का इतिहास' के विद्वान् लेखक डा० विभूतिभूषण दत्त और उनके सहयोगी डा० अवधेश नारायण सिंह ने मत व्यक्त किया है कि इसका आविष्कार और प्रथम प्रयोग ईसापूर्व पहली व ईसा की तीसरी सदी के बीच किसी समय हुआ होगा। तत्पश्चात् सर्वसाधारण में इस पद्धति के प्रचलित होने और लोकप्रिय बनने में कुछ और समय लगा होगा परन्तु शून्य के प्रयोग के बिना यह पद्धति काम में नहीं लाई जा सकती थी। अतः यह स्पष्ट हो जाता

1. प्राचीन भारत में विज्ञान और शिल्प पृ.सं - १९-१४'

2. The Cultural Heritage of India, p.no.18

है कि इस पद्धति के प्रचलित होने के पूर्व भारतीयों को शून्य का ज्ञान अवश्य रहा होगा। इसीलिए एक से नौ तक अंक और इसके बाद दसवें अंक को 'शूनत बिन्दु' या 'शून्य' कहा गया है। एक, दो, तीन की तरह वराहमिहिर ने शून्य को भी एक अंक मानकर गणना की है। उन्होंने अपने 'बृहत्संहिता' और 'पंचसिद्धान्तिका' ग्रन्थों में शून्य का अनेक स्थानों पर उल्लेख किया है।

वराहमिहिर के समकालीन जैन गणितशास्त्री 'जिन भद्रमणि' की रचना में शून्य का और भी अधिक शुद्ध प्रयोग हुआ है, बड़ी-बड़ी संख्याओं के जोड़ और बड़ी भिन्नों के लघुकरण में भी उन्होंने शून्य का प्रयोग किया है। इसी प्रकार आर्यभट्ट ने भी अपनी गणनाओं में कई बार शून्य का उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में शून्य का प्रयोग संख्या के रूप में ईसा पूर्व दूसरी सदी अथवा इसके कुछ पूर्व से ही आरम्भ हो गया था। आरम्भ में शून्य को एक बिन्दु से प्रदर्शित करते थे बक्षली पाण्डुलिपि में शून्य बिन्दु (.) के रूप में ही लिखा मिलता है। एक लघु वृत्त (०) के रूप में शून्य का प्रयोग धीरे-धीरे विकसित हुआ।

वर्णाकि प्रणाली

आर्यभट्ट प्रथम ने अपने ग्रन्थ आर्यभटीय के प्रथम प्रकरण- 'दशगीतिकापाद' के एक श्लोक में बड़ी-बड़ी संख्याओं को लिखने के लिये वर्णमाला के अक्षरों के उपयोग कर एक सर्वथा मौलिक विधि - वर्णाकि प्रणाली का प्रतिपादन किया।

यथा -

वर्गाक्षराणि वर्गेऽवर्गे वर्गाक्षराणि कात् डमौ यः ।

खद्विनवके स्वरा नव वर्गेऽवर्गे नवान्त्यवर्गे वा ॥

—आर्यभट्टीयम् गीतिकापाद

इसके अनुसार वर्णमाला के अक्षरों को आर्यभट्ट ने अधोलिखित मान प्रदान किये -

क	ख	ग	घ	ङ
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)

च	छ	ज	झ	ञ
(6)	(7)	(8)	(9)	(10)

ट	ठ	ड	ढ	ण
(11)	(12)	(13)	(14)	(15)

त	थ	द	ध	न
(16)	(17)	(18)	(19)	(20)

प	फ	ब	भ	म
(21)	(22)	(23)	(24)	(25)

य	र	ल	व	श	ष	स	ह
(30)	(40)	(50)	(60)	(70)	(80)	(90)	100)

अ	इ	उ	ऋ	ॠ	ए	ऐ
10^{15}	10^2	10^4	10^6	10^8	10^{10}	10^{12}

ओ	औ
10^{14}	10^{16}

इस प्रणाली के अनुसार उन्होंने 'खयुघृ' अक्षरों के संयोजन से संख्या - 4,32,000 को व्यक्त किया। $ख = 2$, $य = 30$, $3 = 10^4$ $घ = 4$, $ऋ = 10^6$ अर्थात् - $(2+30) \times 10^4 + 4 \times 10^6$

$$= 32 \times 10000 + 40,00,000 = 4,32,000$$

इसी प्रकार 57753336 संख्या के 'चयगियिनुसुचलु' अक्षरों से व्यक्त किया $(6 + 30 + 3 \times 10^2 + 30 \times 10^2 + 5 \times 10^4 + 70 \times 10^4 + 7 \times 10^6 + 5 \times 10^8 = 57753336)$ । इसका उच्चारण भी बहुत कठिन है और इसे स्मरण रखना भी कठिन हुआ होगा प्रायः इस कारण ही यह वर्णांक प्रणाली प्रसिद्ध न हो सकी हो । परन्तु इसकी मौलिकता और नवीनता को तो स्वीकारना ही पड़ेगा।³

गणना -

वैदिक गणितज्ञों ने परिभाषित करने के लिए संख्याओं का नामकरण किया । इन नामों के समूहों को ३० मूलभूत शब्दों में समाहित किया । उन्हें तीन भागों में बाँटा जा सकता है -

१.	एकम्	द्वे	त्रीणि	चत्वारि	पञ्च	षट्	सप्त
	(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)
	अष्ट	और	नव				
	(८)		(९)				

यहाँ प्रत्येक शब्द एक संख्या को निर्दिष्ट करता है और पूर्व के शब्द से एक संख्या बड़ी है ।

२.	दश,	विंशतिः,	त्रिंशत्,	चत्वारिंशत्,	पञ्चाशत्,
	(१०)	(२०)	(३०)	(४०)	(५०)
	षष्टिः,	सप्ततिः,	अशीतिः	और	नवतिः
	(६०)	(७०)	(८०)		(९०)

यहाँ प्रत्येक शब्द पूर्व संख्या से दस गुना बड़ी संख्या को निर्दिष्ट करता है और ये संख्यायें भाग (१) में विद्यमान संख्याओं को १० से गुना करने से प्राप्त हुई हैं ।

३.	शतम्, (१० ^२)	सहस्रम्, (१० ^३)	अयुतः, (१० ^४)	वियुतः, (१० ^५)
	प्रयुतः (१० ^६)	अर्बुदः (१० ^७)	न्यर्बुदः (१० ^८)	समुद्रः (१० ^९)
	मध्यः (१० ^{१०})	अन्तः (१० ^{११})	और	परार्धः (१० ^{१२})

यहाँ प्रत्येक शब्द पूर्व के शब्द से दस गुना बड़ा है । इससे भी बड़ी संख्या का नाम इन शब्दों के सुव्यवस्थित और सुनियंत्रित ढंग से संयोजन करने पर प्राप्त कर सकते हैं ।

मेधातिथि ने उपर्युक्त संख्याओं को दस के गुणकों में अंकित किया है। कुष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता के एक मन्त्र में यह संख्या क्रम १०^{१२} से बढ़कर १०^{१४} तक दिया गया है और इसे 'लोक नाम से प्रकट किया गया है। वास्तव में इन बड़ी संख्याओं को सुव्यवस्थित रूप में अंकित करने का श्रेय मेधातिथि को दिया जाता है । ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के अनेक मन्त्र मेधातिथि के नाम से दिये गये हैं । वैदिक काल के प्रसिद्ध ऋषियों में उनकी गणना की जाती है ।

वैदिक साहित्य में ऋग्वेद को प्राचीनतम माना जाता है । नक्षत्र संस्थापन के ज्योतिषीय विचार के आधार पर ऋग्वेद का रचनाकाल ई० पू० ६००० वर्ष माना जाता है । ऋग्वेद में भी अनेक संख्याओं के उल्लेख मिलते हैं । यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता (अनुवाक ११-२०) में युग्म और

अयुग्म, सम और विषम संख्याओं का उल्लेख है तथा ४, ५, १०, २०, १०० के पहाड़े भी दिये हैं। 'हिन्दू गणित का इतिहास' में तैत्तिरीय संहिता का रचनाकाल ई.पू. ३००० वर्ष माना गया है।

उस युग के भारतीयों को न केवल संख्याओं और उनकी गणना की ही जानकारी थी, अपि तु वे ईसा से हजार वर्ष से भी पूर्व वेदांग ज्योतिष काल में गणितीय सिद्धान्तों जैसे संयोग (जोड़) वियोग (घटाव) और भाग का सहजता से उपयोग करते थे। उन्हें भिन्नों और उनके जोड़-बाकी, गुणा भाग की रीतियों का भी समुचित ज्ञान था। यथा -

अर्धप्रमाणेन पादप्रमाणं विधीयते। (का.शु.सू.)

अर्थात् $(\frac{1}{2})^2 = \frac{1}{4}$

इसी प्रकार

‘अध्यर्धपुरुषारज्जुर्द्वौ सपादौ करोति,’ (का.शु.सू.)

अर्थात् $(1 + \frac{1}{2})^2 = 2\frac{1}{4}$

पाद से यहाँ आशय चतुर्थांश से है। भिन्नों को व्यक्त करने के लिए भाग का प्रयोग किया जाता था। यथा-पंचम भाग $\frac{1}{5}$, सप्तमभाग $= \frac{1}{7}$, दशमभाग $= \frac{1}{10}$ इत्यादि।

संयोग और भाग सिद्धान्तों के उपयोग को हम देख चुके हैं। वियोग के उपयोग के उदाहरण के रूप में १९ संख्या के संख्यानाम को ले सकते हैं। एकोनविंशतिः (२०-१) इसे नवदश (९+१०) के रूप में भी लिखा जा सकता है।

वैदिक काल के हिन्दुओं ने संख्याओं की अत्यन्त वैज्ञानिक और स्पष्ट पारिभाषिक शब्दावली को विकसित किया। प्राचीन ग्रीकों का अधिकतम पारिभाषिक शब्द ‘मैरियाड़’ (Myriad-10⁴) है और इसका उपयोग ई.पू.चतुर्थ शतक से प्रारम्भ हुआ। रोमनों ने तो मीय’ (Mille-10³) तक ही अपने को सीमित रखा। किन्तु हिन्दुओं ने ग्रीक और रोमनों

से शतकों पूर्व ही परार्ध⁴ (10^{12}) तक की संख्या को नामित किया था। प्राचीन हिन्दू संख्या के सूक्ष्म खण्डों के बारे में भी जानते थे। कुछ छोटी और बड़ी संख्याएँ नीचे दर्शायी गयी हैं -

<u>बड़ी</u>	<u>छोटी</u>
कोटि - 10^3	पाद - $1/8$
तितिलम्ब - 10^{27}	शफ - $1/16$
सर्वबल - 10^{44}	कुष्ठ - $1/12$
तल्लक्षण - 10^{63}	कला - $1/16$

बौद्धग्रन्थ ललिता विस्तार (ई.पू.प्रथम शतक) में राजकुमार गौतम और गणितज्ञ अर्जुन के बीच हुई स्पर्धा के सन्दर्भ में तल्लक्षण के उल्लेख का उदाहरण है।

ललिता विस्तार में अत्यन्त सूक्ष्म मानक का नाम 'परमाणुरज' है जो एक अंगुलपर्व⁵ (अंगुली की लम्बाई) के 10^{-19} के समान है

इन संख्याओं को परिभाषित करने वाले शब्दों को ऋग्वेद में भी देखा जा सकता है। एक उदाहरण को देखें-

ऋग्वेद - ३ - ९-९ और १०-५२-६

त्रीणि शतत्रिसहस्राणि अग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यसन्

औक्षन् धृतैरष्टां बर्हिरश्मा

न्यासाहयन्त ।

प्रथम पंक्ति संख्या ३३३९ का प्रतिनिधित्व करती है। वैदिक काल में विज्ञान सामान्य जनजीवन का एक अविभाज्य अंग था। संख्याएँ अमूर्त नहीं थीं और उनका प्रकटीकरण सैकड़ों तरह का था। उदाहरणार्थ नीचे कुछ संख्याओं के प्रकटीकरणात्मक शब्द दिये गये हैं -

4. A Concise History of Science in India, 6, p.p, 31

5. Scientific Heritage of India . p.p 57.

- शून्य - ० - शून्य, श्व, गगन, अम्बर, आकाश, अभ्र, वियत, व्योम, अन्तरिक्ष, नभ, पूर्ण, रन्ध्र, विष्णुपद इत्यादि ।
- एक - १ - आदि, शशी, इन्दु, विधु, चन्द्र, कलाधर, हिंगु, शीतांशु, हिमांशु, सोम, शशांक, हिमकर, सुधांशु, रजनीकर, शशधर, श्वेत, भू, धरा, गो, वसुन्धरा, पृथ्वी, इला, मही, पितामह, तनु, इत्यादि ।
- दो - २ - यम, अश्विन, नासत्य, नेत्र, दृष्टि, नयन, पक्ष, बाहु, कर्ण, कुच, जानु, जंघा, द्वय, द्वन्द्व, युगल, युग्म, कुटुम्ब, अयन, इत्यादि ।
- तीन - ३ - राम, गुण, त्रिगुण, लोक, त्रिजगत्, भुवन, त्रिकाल, त्रिनेत्र, अग्नि, अनल, वह्नि, पावक, तपन, ज्वलन, रत्न इत्यादि ।
- चार - ४ - वेद, श्रुति, समुद्र, सागर, जलधि, वारिधि, पयोधि, वर्ण, आश्रम, युग, तूर्य, कोष्ठ, गति इत्यादि ।
- अन्य संख्याओं का भी ऐसे ही नाम हैं ।⁶

संख्यावाचक - लिखित संख्यायें - संख्या चिह्न

आज के संख्यावाचक क्रम १ से ९ तक के अंक और शून्य का आविष्कार हिन्दुओं ने २००० वर्ष से भी पहले किया । राजा अशोक (२५० ई.पू.) के काल में ब्राह्मी लिपि का उपयोग व्यापक रूप में होता था । अधिकांश ब्राह्मी शिलालेखों में ब्राह्मी संख्यावाचक शब्द देखे गये हैं । ये शिलालेख संख्यावाचकों के उपलब्ध प्रमाणों में सबसे प्राचीन हैं । ब्राह्मी संख्यावाचकों में १ से ९ तक के अंकों को निर्दिष्ट करने के लिए विशेष संकेत हैं । हिन्दु अंकगणित का यह एक प्रमुख लक्षण है और प्रमुख विषय यह है कि ईसा के बाद चौथे शतक में ही हिन्दुओं ने दशमांश स्थान मान पद्धति (decimal place value system) को विकसित किया और तब से लेकर हिन्दू संख्यावाचक सार्वत्रिक हुए । नीचे ई.स.२०० में उपयुक्त संख्यावाचकों को दिया गया है -

प्राचीन हिन्दू संख्यावाचक

ब्राह्मी शिलालेख (३०० ई.पू.)

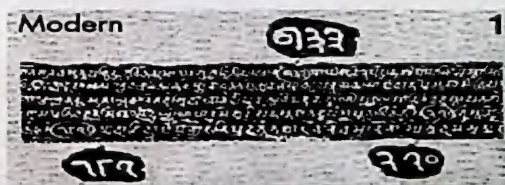
ग्वालियर शिलालेख (८७० ई.स.)

देवनागरी शिलालेख (११०० ई.स.)

आधुनिक संख्यायें

ग्वालियर शिलालेख उस शिलालेख का नाम है जो ग्वालियर (मध्यप्रदेश) में प्राप्त हुआ यह भोजदेव (८७० ई.स.) के साम्राज्य के काल में लिखा गया। यह उस काल में उपयुक्त संख्यावाचकों को दर्शाता है। यह संख्यावाचक दशमांश स्थान मान के अनुसार लिखे गये हैं।

यही संख्यावाचक बाद में चलकर आज के देवनागरी संख्यावाचकों के रूप में परिणत हुए।



अरबियों का ज्ञान -

ईसा के बाद नवम शतक तक अरब या यूरोप देशों के पास संख्यावाचकों का ज्ञान नहीं था। अरबी विद्वान् अल-खोवारिज्मि (ई.स. ७८०) के द्वारा लिखी गयी पुस्तक ऐसी प्रथम पुस्तक है जिसने अरबों को किन्तु संख्यावाचकों, दशमांश स्थान मान पद्धति और इन पर आधारित अंकगणितीय प्रक्रियाओं के बारे में जानकारी दी।

पाश्चात्यों का ज्ञान -

ईसा के बाद बारहवीं सदी में अल-खोवारिज्मि की अंकगणितीय पुस्तक का लेटिनभाषा (स्पेन देश में) में रूपान्तरण किया गया और पश्चिम यूरोप में उसका प्रसार हुआ।

अत्यन्त पुरातन यूरोपीय पाण्डुलिपि अल्बेडो मठ⁷ के 'कोडेक्स विजिलेनस' (Codex vigilanus) अभी मेड्रिड के एस्कुरियल में रखा हुआ है) में १ से ९ तक की संख्याओं का विवरण दिया गया है उसके अनुसार-

'अतः इन गणितीय संकेतों से हमें यह मानना चाहिए कि प्राचीन हिन्दुओं के पास अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धिशक्ति थी और अन्य देश संगणनकला, ज्यामिति और अन्य वैज्ञानिक क्षेत्रों में उनसे बहुत पीछे थे । यह इन नौ अंकों से प्रमाणित होता है जिन्होंने किसी भी स्तर पर हर श्रेणी की संख्या का प्रतिनिधित्व किया । उनका आकार इस प्रकार है'

ये संख्यायें अरबों द्वारा प्राप्त होने के कारण इनको हिन्दू-अरेबिक संख्यावाचक भी कहा जाता है⁸। अरबों ने न तो इनका आविष्कार किया और नहीं विकास । अरबों ने केवल उन्हे पाश्चात्यों के पास तक ले जाने की भूमिका निभाई ।

वर्गमूल और घनमूल

किसी भी संख्या का वर्गमूल और घनमूल निकालने की आधुनिक अंकगणितीय पद्धति आर्यभट्ट प्रथम की देन है । उनका नियम है -

भागं हरेदवर्गात्रित्यं द्विगुणेन वर्गमूलेन ।

वर्गाद्वर्गे शुद्धे लब्धं स्थानान्तरे मूलम् ॥

अर्थ - सर्वदा अवर्ग स्थान की संख्या को आगे की वर्गस्थान की संख्या के वर्गमूल के दुगुना से भाग करना चाहिए और पश्चात् उस वर्ग (भागलब्धि के) को आगे की वर्गस्थान की संख्या से घटाना चाहिए । तब प्राप्त भागलब्धि को पूर्वलब्धि के आगे लिखने पर वर्गमूल मिलता है । यहा 'वर्ग' और 'अवर्ग' अर्थात् 'सम' और 'विषम' स्थान है ।

7. Numbers through the age - by G. Flogg - p. 116

8. George Sarton-See Cultural Heritage of India-P.37

पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ काल के गणितज्ञ परमेश्वर इस प्रक्रिया का विवरण देते हैं ⁹। यथा -

‘जिस संख्या का वर्गमूल निकालना हो उसको संख्याओं के स्थान के अनुसार वर्गस्थान और अवर्गस्थान ऐसे दो गुटों में बाँटना चाहिए । दाहिने से गणना करते हुए अन्तिम वर्ग या अवर्ग (last square or odd place) स्थान से सम्भाव्य अधिकतम वर्गमूल के वर्ग को घटाना चाहिए । इस मूल को अलग लिखना चाहिए।

अग्रिम सम या अवर्ग (even or non square place) स्थान की संख्या को पूर्वतन शेष के बाद लिखकर प्राप्त संख्या का अलग किये हुए मूल के दुगुने से भाग करना चाहिए । प्राप्त भागलब्धि के वर्ग को अग्रिम वर्ग स्थान की संख्या से घटाना चाहिए । उसकी भागलब्धि आगे की प्रक्रिया के लिए मूल बनेगी और उसको पूर्वलब्धि के बाद पंक्ति में लिखना चाहिए’ ।

उदाहरण - (विषम और सम संख्यायें दाहिने से प्रारम्भ करते हुए लम्ब और समान्तर रेखा चिह्नों से अंकित किये गये हैं)

समीपतम संख्या का मूल ।	119025 ($3 =$ अन्तिम विषमस्थान के
मूल का वर्ग	$3^2 = 9$
मूल का दुगुना	$= 2 \times 3 = 6$) 29 ($4 =$ भागलब्धि या
	24 वर्गमूल का अग्रिम अंक
प्राप्त भागलब्धि के वर्ग को अग्रिम	40
वर्गस्थान की संख्या से घटाना चाहिए	$= 4^2 = 16$
मूल का दुगुना	$= 2 \times 34 = 68$) 342 ($5 =$ भागलब्धि या
	340 वर्गमूल का अग्रिम अंक
	25

$$\text{भागलब्धि का वर्ग} = 5^2 \quad 25$$

$$0$$

अपेक्षित वर्गमूल है ३४५ । इसी प्रकार घनमूल के लिए ब्रह्मगुप्त का नियम (आर्यभट्ट के नियम के समान) है -

‘द्वितीय अघन अंक (स्थान) का भाजक घनमूल के वर्ग का तिगुना है। भागलब्धि के वर्ग को तीन और अगले अंक से गुना करना चाहिए और प्राप्त संख्या को अगले अंक (अघन) से घटाना चाहिए और घन को घन (अंक) से घटाने पर जो प्राप्त होता है वही घनमूल है ।

$$\begin{array}{l} 1-1-1 \\ \text{उदाहरण} - 34965723 \quad (3 = \text{अन्तिम घनस्थान की संख्या के} \\ \text{समीपतम मूल का घन} = 3^3 = 27 \text{ संख्या का मूल।} \\ \text{मूल के वर्ग का तिगुना} = 3 \times 3^2 = 27) 79 \text{ (२ भागलब्धि या मूल का} \\ \quad \quad \quad 58 \quad \quad \quad \text{अग्रिम अंक} \end{array}$$

$$\begin{array}{l} \text{भागलब्धि के वर्ग को पूर्व मूल के} \quad 256 \\ \text{तिगुना से गुना करने पर} = 2^2 \times 3 \times 3 = 36 \\ \quad \quad \quad 2204 \end{array}$$

$$\begin{array}{l} \text{भागलब्धि का घन} = 2^3 = 8 \\ \text{मूल के वर्ग का तिगुना} 3 \times 3^2 = 3072) 21977(7 \\ \text{भागलब्धि या मूल का अग्रिम अंक} \end{array}$$

$$\begin{array}{l} \text{भागलब्धि वर्ग को पूर्वमूल के तिगुना} \quad 21508 \\ \text{से गुना करने पर} = 7^2 \times 3 \times 32 = \quad 4736 \\ \quad \quad \quad 4708 \\ \quad \quad \quad 383 \\ \quad \quad \quad 383 \\ \quad \quad \quad 0 \end{array}$$

$$\text{अपेक्षित घनमूल है} = 327$$

वर्गमूल धनमूल निकालने की यह पद्धति यूरोप में ई.स. १६१३ तक ही उपयोग में आ सकी।¹⁰

वर्गमूल और घनमूल निकालने में आर्यभट्ट के नियमों का विशेष महत्व है। वर्ग, अवर्ग, घन, अधन स्थानों का उपयोग और इसमें अपनाई गयी पद्धति से हम यह मान सकते हैं कि आर्यभट्ट के समय या सम्भवतः उससे भी बहुत पहले से ही दशमांश स्थान मान अंकन पद्धति का उपयोग होता आ रहा है।

तीन का नियम - त्रैराशिक

तीन का नियम और उसका प्रतिलोम नियम (व्यस्त त्रैराशिक) सरल अनुपात और समानुपातों से युक्त समस्याओं को हल करने के लिए उपयुक्त होता था। भारतीय गणितज्ञों ने इन नियमों को उच्चश्रेणी का क्योंकि बहुत सारी गणनाओं के लिए इस नियम का उपयोग आवश्यक था।

कुछ विद्वान् प्रबल रूप से यह अनुमान करते हैं कि यह तीन का नियम भी पाश्चात्य देशों में ईसा के बाद चौदह या पन्द्रहवीं सदी के लगभग पृथक् हुआ। यूरोप में इस नियम को अंकगणित का स्वर्णिम नियम (Golden rule of Arithmetic) कहा जाता है।

अंकगणितीय और रेखागणितीय (ज्यामितीय) श्रेणियाँ

अंकगणितीय और रेखागणितीय (ज्यामितीय) श्रेणियों को उत्पन्न करनेवाली संख्याओं के बारे में भी वैदिक हिन्दू जानते थे।

अंकगणितीय श्रेणियों को अयुग्म (विषम) और युग्म (सम) भेद से दो भागों में बाँटा गया है। 'वाजसनेयी संहिता' में दो उदाहरण दिये गये हैं।

यथा १) १, २, ३ ३१

२) ४, ८, १२ ४८

श्रौतसूत्र में ज्यामितीय श्रेणी का एक उदाहरण दिया गया है ।

यथा - १२, २४, २८, ९६, १९२.... ४९१५२, ९८३०४, १९६६०८

इन श्रेणियों को जोड़ने की विधि को वे जानते थे ।

वैदिक गणित में अभिनव कार्य

वैदिक गणित क्षेत्र में एक उल्लेखनीय अभिनव कार्य है शारदापीठ और गोवर्धन मठ के शंकराचार्य परमपूज्य जगद्गुरु स्वामी भारती कृष्ण तीर्थ महाराज के द्वारा किया गया पथप्रदर्शक कार्य जिसमें उन्होंने असाधारण १६ गणित सूत्र और १३ उपसूत्रों का विवरण उनके मूलतत्त्व, गुणधर्म और प्रयोगों के साथ दिया है । और उनका ग्रन्थ का नाम है वैदिक मेथमेटिक्स (Vedic Mathematics) । ये गणितसूत्र और उपसूत्र प्रारम्भ में विविध तरह के अतिवेगी गणनाओं को करने के लिए उपयुक्त हुए । यह ज्ञात हुआ है कि इन गणितसूत्रों के अन्तःशक्ति और अर्थापत्ति (implications) गणनाओं से परे हैं । लेखक स्वामी भारती कृष्णतीर्थ दावा करते हैं कि ये सूत्र अथर्ववेद के एक परिशिष्ट में हैं । किन्तु इस सम्बन्ध में विवाद है कि ये वेद में नहीं है क्यों कि उस तरह का परिशिष्ट कहीं देखने को नहीं मिलता । फिर भी ये गणितसूत्र और उपसूत्र विविध तरह की गणनाओं को करने के लिए अत्यन्त स्वारस्यपूर्ण अतिशीघ्र पद्धति को दर्शाते हैं । अन्य वैदिक ग्रन्थों के अनुसार इस को भी बहुआयामीय स्वरूप देखे गये हैं जो इस ग्रन्थ को वैदिक श्रेणी में समाहित करती है । वे १६ सूत्र और १३ उपसूत्र इस प्रकार हैं ।

सूत्र

१. एकाधिकेन पूर्वेण ।
२. निखिलं नवतश्चरमं दशतः ।
३. ऊर्ध्वतिर्यग्भ्याम् ।
४. परावर्त्य योजयेत् ।
५. शून्यं साम्यसमुच्चाये ।
६. (आनुरूप्ये) शून्यमन्यत् ।
७. संकलनव्यवकलनाभ्याम् ।
८. पूरणापूरणाभ्याम् ।
९. चलनकलनाभ्याम् ।
१०. यावदूनम् ।
११. व्यष्टिसमष्टिः ।
१२. शेषाण्यङ्गेन चरमेण ।
१३. सोपात्यद्वयमन्त्यम् ।
१४. एकन्यूनेन पूर्वेण ।
१५. गुणितसमुच्चायः ।
१६. गुणकसमुच्चायः ।

उपसूत्र

१. आनुरूप्येण ।
२. शिष्यते ।
३. आद्यमाद्येनान्त्यमान्त्येन ।
४. केवलैः सप्तकं गुण्यात् ।
५. वेष्टनम् ।
६. यावदूनं तावदूनम् ।
७. यावदूनं तावदूनीकृत्य वर्गं च योजयेत् ।
८. अन्त्ययोर्दशकेऽपि ।
९. अन्त्ययोरिव ।
१०. समुच्चयगुणितः ।
११. लोपनस्थापनाभ्याम् ।
१२. विलोकनम् ।
१३. गुणितसमुच्चायः ।

अधिक जानकारी के लिए 'वेदिक मेथमेटिक्स्' (प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली) पुस्तक देख सकते हैं ।

बीजगणित

बीजगणित का उपयोग आपस्तम्भ, बौधायन, कात्यायन मानव इत्यादि के शुल्बसूत्रों के काल से ही प्रारम्भ हुआ । विभिन्न प्रकार की यज्ञवेदियों के निर्माण ने ऐसी समस्याएँ उत्पन्न कर दीं जिनके लिये रेखीय

(linear) समकालिक (simultaneous) और अपरिमित (undetermined) समीकरणों का समाधान ढूँढना पड़ा ।

बीजगणित ब्रह्मगुप्त के काल (ई.सन् सातवीं शतक) से ही गणित की एक अलग शाखा के रूप में विकसित हुई । इसे कुट्टक गणित और अव्यक्तगणित भी कहा जाता था ।

अज्ञात परिमाण की शक्ति के अनुसार समीकरणों को विभाजित किया गया ।

उदा	-	यावत् - तावत्	सरल (Simple)
		वर्ग	द्विघाती (Quadratic)
		घन	त्रिघाती (cubic)
		वर्ग - अवर्ग	अर्धद्विघाती (bi-quadratic)

समीकरणों को अन्य क्रम से भी विभाजित किया गया

१. एकवर्ण समीकरण - जिसमें एक अज्ञात है ।
२. अनेक वर्ण समीकरण - जिसमें अनेक अज्ञात हैं ।
३. भावितसमीकरण - जिसमें अज्ञातों का गुणनफल समाहित है ।

बकशली पाण्डुलिपि (सन् २००) में द्विघाती समीकरणों का समाधान ($ax^2 + bx + c = 0$ है) आर्यभट और ब्रह्मगुप्त दोनों को ज्ञात था ।

वर्ग को पूर्ण करने की आज की पद्धति श्रीधराचार्य (सन् १० वीं शतक) की देन है -

चतुराहतवर्गसमैः रूपैः पक्षद्वयं गुणयेत् ।

अव्यक्तवर्गरूपैः उक्तौ पक्षौ ततो मूलम् ॥

अर्थ - दोनों पार्श्वों को अज्ञात के वर्ग के गुणांक के चौगुना से गुणा करना चाहिये ।

अज्ञात के गुणांक के वर्ग को दोनों पार्श्वों से जोड़ना चाहिए

$$ax^2 + bx + c = 0$$

$$\times 4a$$

$$4a^2 + 4abx + 4ac = 0$$

$$4a^2x^2 + 4abx + ac + b^2 = 0 + b^2$$

$$4a^2x^2 + 4abx + b^2 = b^2 - 4ac$$

$$(2ax + b)^2 = b^2 - 4ac$$

$$2ax = b \pm \sqrt{b^2 - 4ac}$$

$$x = \frac{b \pm \sqrt{b^2 - 4ac}}{2a}$$

$$2a$$

क्रमचय (permutations) और संयोजन (Combinations)

बहुत प्रारम्भिक काल से ही भारतीय क्रमचय और संयोजन पद्धतियों को जानते थे । इन पद्धतियों का उपयोग व्यापक रूप में काव्य, वास्तुशास्त्र, सङ्गीत और चिकित्सा के क्षेत्रों में होता था ।

अनुयोगद्वारसूत्र में 'n' मूलभूत श्रेणियों के द्वारा सम्भाव्य संयोजनों की संख्या दी गई है - जैसे एक बार में एक को लेकर (एकता संयोग) एक बार में दो को लेकर (द्विक-संयोग) एक बार में तीन को लेकर (त्रिक-संयोग) संयोग ।

$${}_n C_r = \frac{n(n-1)(n-2) \dots (n-r+1)}{123 \dots r}$$

इस सामान्य सूत्र को आविष्कृत करने का श्रेय केवल महावीराचार्य को ही जाता है ।

एकाद्येकोत्तरतः पदमूध्वाधिर्यतः क्रमोत्क्रमशः ।

स्थाप्य प्रतिलोमघ्नं प्रतिलोमघ्नेन भाजितं सारम् ॥

अर्थ

‘एक से प्रारम्भ करके एक-एक करके बढ़ाते हुये अंकों को तब तक लिखना चाहिये जब तक प्रदत्त वस्तुओं की संख्या प्राप्त न हो जाय और उसको उपरी और निचली पंक्ति में क्रमशः अनुलोम और प्रतिलोम क्रम में ही लिखना चाहिये । उपरि पङ्क्ति के १, २, ३, या ऊपर की संख्याओं को दाहिने से बाई ओर गिनने से प्राप्त योग को निचली पंक्ति के १, २, ३, या ऊपर की संख्याओं को दाहिने से बाई ओर गिनने पर प्राप्त योग से भाग करने पर बहुत सारे संयोजनों को प्राप्त कर सकते हैं।

‘पिंगल’ (२०० ई.पू.) के छन्दःसूत्र में एक बार में ‘n’ अंकों जैसे १, २, ३, से लेकर ‘n’ संख्या तक के विविध संयोजनों को प्राप्त करने का नियम दिया गया है । इसे ‘मेरुप्रस्तर’ कहा गया है । ईसा के दसवीं शताब्दी के व्याख्याकार हलायुध ने इस पद्धति का विस्तृत विवरण दिया है।

यूरोप में ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में यह नियम ‘पास्कल’ के त्रिकोण (Pascal’s triangle) के नाम से प्रचलन में आया ।

अपरिमित समीकरण (Indeterminate Equation)

शुल्बसूत्र काल से ही प्रथम कोटि के ये अपरिमित समीकरण भारतीय गणितज्ञों और खगोलशास्त्रज्ञों को अपनी ओर आकृष्ट किये । उत्तरकालीन गणितज्ञों जैसे आर्यभट्ट प्रथम, ब्रह्मगुप्त, भास्कर प्रथम, महावीर, आर्यभट्ट द्वितीय ने अपरिमित समीकरणों को हल करने के लिये विस्तृत नियम बनाये हैं ।

द्वितीय कोटि के अपरिमित समीकरणों को ‘वर्गप्रकृति’ कहा गया है । वे $nx^2 + 1 = y^2$ प्रकार के हैं ।

भास्कर द्वितीय ने अपरिमित समीकरणों को हल करने के लिये चक्रावाल पद्धति (cyclic method) को आविष्कृत किया ।

$61x^2 + 1 = y^2$ इस समीकरण का हल भास्कर के अनुसार -

$$x = 22,61,53,980$$

$$y = 176,63,19,049$$

यह चौकाने वाला विषय है कि इसी समीकरण को फ्रेञ्च गणितज्ञ फारमेट (Farmet 1657 ई.स.) फ्रान्सियल (Francial) को चुनौती के रूप में दिया था किन्तु स्वीट्जरलैण्ड के गणितज्ञ इयूलर (euler) ने १७३२ ई.स. में इसका हल ढूँढा अर्थात् भास्कर द्वितीय के ७०० साल से भी अधिक काल के पश्चात्।

इस चक्रवाल पद्धति का अध्ययन उप्पशला विश्वविद्यालय के सेलेनियस के क्लास ०१ (class of selenius) ने किया और उन्होंने लिखा है “इस चक्रवाल पद्धति से यूरोपीय पद्धतियों को हजार से भी अधिक वर्षों तक अपनाया गया और यह अन्य सभी प्राच्य कार्यों से श्रेष्ठ निकली । मेरे मत के अनुसार भास्कर के काल में या उसके बहुत बाद तक इस तरह की उच्च श्रेणी की गणितीय जटिलताओं को हल करने में कोई भी यूरोपीय गणितज्ञ समर्थ नहीं हुआ ।”¹²

ज्यामितिशास्त्र

वैदिक काल के हिन्दू ज्यामितीय आकृतियों के निर्माण में निष्णात थे। यजुर्वेदीय शुल्वसूत्रों में विविध यज्ञवेदियों के मापन और निर्माण के बारे में बताया गया है । इसके फलस्वरूप शुल्वसूत्रों ने सरलरेखीय आकृतियों से सम्बद्ध ज्यामितीय साध्यों और समस्याओं को अपने में अन्तर्भावित किया ।

बौधायन, आपस्तम्भ, कात्यायन और मानव वैदिक काल के प्रमुख गणितज्ञ ऋषि थे। विकर्णरेखा-वर्गप्रमेय (theorem of the square of the diagonal) विविध उपयोगों के कारण अत्यन्त प्रमुख था।

बौधायन सूत्र (Pythagoras Theorum)

बौधायन ऋषि ने इसकी व्याख्या दी है। यथा -

दीर्घचतुरस्रस्याक्ष्या रज्जुः

पार्श्वमानी तिर्यक् मानी

यत्पृथग्भूते कुरुतस्तदुभयं करोति ।

अर्थ

एक आयत की लम्बाई और चौड़ाई के द्वारा अलग-अलग जितना क्षेत्रफल उत्पन्न किया जाता है ठीक उतना ही (क्षेत्रफल) उसकी विकर्ण रेखा के द्वारा उत्पन्न किया जाता है। अर्थात् आयत को विकर्ण रेखा के ऊपर दर्शाया गया वर्ग का क्षेत्रफल उसकी लम्बाई और चौड़ाई के ऊपर दर्शाये गये वर्गों के क्षेत्रफल के समान है।

विविध आकृतियों चतुरस्रवेदी, समकोणवेदी, समद्विभुजाकृतिवेदी विषमचतुर्भुजाकृति वेदी की यज्ञवेदियों (यज्ञकुण्डों) के निर्माण में इस प्रमेय का उपयोग किया जाता था। अतः यह आयताकृति इस प्रमेय में उपयुक्त है।

वर्तमानकाल में इस प्रमेय का श्रेय पाइथगोरस को दिया जाता है और इसको पाइथगोरस थियोरम कहा जाता है।

पाइथगोरस से एक हजार साल पूर्व ही भारतीय इस प्रमेय को जानते थे। बौधायन और कात्यायन ऋषियों ने इस प्रमेय की प्रमाणपूर्वक व्याख्या की है।

पाइथोगोरस की मृत्यु के ५०० वर्ष बाद इस थियोरम को पाइथोगोरस के नाम से कहने की परम्परा का आरम्भ हुआ अतः प्रश्न उठता है कि क्या पाइथागोरस ने ही इसका आविष्कार किया ? इसका प्रमाणिक उत्तर आज तक नहीं प्राप्त हो सका है ।

तथापि इस परम्परा के समर्थन में विविध प्रयास किये जा चुके हैं और इयुक्लिड के अवयव (Euclids Elements) के द्वारा दिये गये प्रमाण (प्रमेय सं 47 BK I)¹² से पहले कोई प्रमाण नहीं मिला ।

π मान-वृत्त का वर्गीकरण

भास्कराचार्य ने अपना ज्यामितिशास्त्रीय ग्रन्थ 'लीलावती', में π का मान दिया है -

व्यासे भनन्दाग्निहते विभक्ते

खबाणसूर्यैः परिधिस्तु सूक्ष्मः ।

द्वाविंशतिघ्ने विहतेऽथ शैले

स्थूलोऽथवा स्याद् व्यवहारयोग्यः ॥

- लीलावती श्लो. १८ .

एक सौ में चार जोड़कर आठ से गुणा कर बारसाठ हजार जोड़ने पर जो फल प्राप्त होगा वह सामान्यतः २००० व्यासवाले वृत्त की परिधि है ।

यथा -

$$\pi = \frac{\text{परिधि}}{\text{व्यास}} = \frac{८ (१००+४) + ६२०००}{२०००} = \frac{६२८३२}{२०००} = ३.१४१६$$

आधुनिक मान = ३.१४१५९२६

शुल्व सूत्रों में कुछ ज्यामितीय आकृतियों के गुण धर्म भी बताये गये हैं।

12. Alexander Volodarsky of USSR Academy of Science in
Scientific Heritage of India -p.50

१. एक आयत की विकणरिखा आयत को दो समान भागों में विभाजित करती है ।
२. एक आयत की दो विकणरिखायें एक दूसरे को दो समानभागों में विभाजित करती हैं ।
३. एक समचतुर्भुज की विकणरिखायें एक-दूसरे को समकोण में विभाजित करती हैं ।

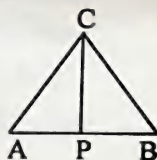
त्रिकोण का क्षेत्रफल

आर्यभट्ट प्रथम (४७६ ई.स.) ने 'त्रिकोण का क्षेत्रफल' निकालने का सूत्र बताया है -

त्रिभुजस्य फलशरीरं समदलकोटी भुजार्धसंवर्गः ।

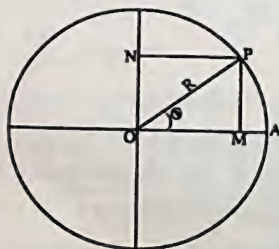
एक त्रिभुज का क्षेत्रफल उसके कोई एक पार्श्व का आधा और उसकी (विरुद्ध शीर्ष से खींची गयी) लम्ब रेखा के गुणनफल के समान है ।

$$ABC = 1/2 AB \times CP$$



त्रिकोणमिति (Trigonometry)

त्रिकोणमिति का आविष्कार प्राचीन भारत में किया गया । भारतीय 'ज्या' और 'कोटिज्या' ही यूरोपीय भाषाओं में सैन (Sine) और कोसाइन (Co-Sine) बन गये ।



प्राचीन हिन्दुओं ने निश्चित त्रिज्यावाले वृत्त की कमान से सम्बद्ध विविध तत्त्वों (भागों) की लम्बाई के बारे में बताया है। ऊपर के चित्र में AP को 'धनुः' (चाप) और PM को 'ज्या' अथवा अर्धज्या (Half Chord) कहा गया है। (ज्या = धनुष् की प्रत्यञ्चा)

आधा डोरी P M = 'ज्या' अथवा अर्ध ज्या

आधा डोरी P N = O M = कोटि ज्या

आधुनिक परिभाषा में यह

ज्या = AP = PM = R Sin

कोटिज्या = OM = R COS

आर्यभट्ट ने 0° से 90° के बीच में विद्यमान विविध कमानों के लिये एक ज्यापट्टिका बनायी है। भारतीय खगोलशास्त्र में इसका उपयोग ग्रहों के स्थान की गणना में होता था।

संदर्भ :-

१. के. जोशी, वेद और भारतीय संस्कृति, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशक (१९९१).
२. एस. के. कपूर, सामवेद संहिता... के वैदिक गणितीय आधार (१९९०).
३. एड. एच. सी. खरे, वैदिक गणित में मामले (१९९१).
४. श्री भारती कृष्णतीर्थजी महाराज, वैदिक गणित (१९६५).
५. आई एस भानूमूर्ति, प्राचीन भारतीय गणित के लिए आधुनिक प्रस्तावना विले इस्टर्न (१९९२).
६. सी. वी. राजगोपाल हिंदू गणित का एक उपेक्षित अध्याय, रचना गणित, खंड १५ (१९४९) २०१-२०९
७. टी वी अय्यर-ग्रेगोरी श्रृंखला के हिन्दू प्रमाण, रचना गणित, खण्ड १८ (१९५२) पृष्ठ २५-३०.

८. के. एम. मरार, मण्डल की हिन्दू पादस्थिति, रायल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा की पत्रिका, खंड २०-१९४४, ६५-८२.
९. ए. वेंकटरमणन्, द साईस एण्ड द कोविन पावर सीरीज इन हिन्दू मेथेमेटिक्स, जर्नल आफ रायल सोसायटी आफ बंगाल १५ (१९४९) पृष्ठ १-१३
१०. ए. वेंकटरमणन्, युक्तिभाषा की समीक्षा भाग-१ गणित समीक्षा, खंड १२, (१९५१) ३०९-३१०.
११. एम. एस. रंगाचारी, मध्यकाल में भारतीय गणित
१२. चार्ल्स एम विश मण्डल की हिन्दूपादस्थिति पर और तन, वुरवी भाभा, कर्ण, पाछती और सदरत्न माला. के चार शास्त्रों में प्रदर्शित डायमीटर के लिए परिधि अनुपात की अपरिमित श्रृंखला ।

भाग - ग

संस्कृत साहित्य में अभियान्त्रिकी, विज्ञान और प्रौद्योगिकी

१. भारत में परम्परागत विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के सम्बन्ध में डाटावेस

भारत में तथा विदेशों में इस विषय पर काफी कार्य हुआ है इसलिए पुनरावृत्ति से बचने के लिए तथा आपसी सम्बन्ध जानने के लिए जो कुछ उपलब्ध है उसका सर्वेक्षण जरूरी है । इस सम्बन्ध में निम्नलिखित को देखा जा सकता है

क) पाण्डुलिपि-नया सूची पत्र कैटलागोरियम (मद्रास विश्वविद्यालय का संस्कृत विभाग)

खंड - १ (क) सम्पादक - सी. के. राजा १९४९
वी. राघवन द्वारा संशोधित १९६६

खंड - २	वी० राघवन द्वारा	१९६७
खंड - ३	सम्पादक - वी० राघवन और के० कुञ्जुणी राजा	१९६७-७०
खंड - ४	एन० वीझिनायन	१९८७-९३

- (ख) इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र ने संपूर्ण जगत से पाण्डुलिपियों के सम्बन्ध में *माइक्रोफिल्म* डाटा संग्रहीत किया है - यह कार्य अभी चल रहा है ।
- (ग) प्रमुख संग्रहों के सम्बन्ध में पूर्ण या अधूरे विवरणात्मक सूचीपत्र उपलब्ध हैं
- (घ) नए खोजें जो नए सूचीपत्र, कैटालोगोरियम में उल्लिखित नहीं है, (१) वेलकम ब्यूरो लाइब्रेरी, लंदन, औषधि और गणित में संपत्र-सूचीकरण जारी है (२) बर्लिन में तथा नेपाल में भी उपलब्ध नेपाल पाण्डुलिपि *माइक्रोफिल्म*। भारत में ज्योतिषशास्त्र तथा गणित का डा० पिंगरी के वर्णनात्मक सूचीपत्र।
- (ङ) इस विषय पर प्रकाशित पुस्तकों की ग्रन्थसूची तथा विज्ञान का इतिहास आदि । ये अलग से भी उपलब्ध हैं ।
- (च) १. सामान्य सूचना सेवा टर्मिनल, राष्ट्रीय सूचना केन्द्र हैदराबाद और
२. बिड़लाविज्ञान केन्द्र ने अन्यो के सहयोग से डाटावेस तैयार करने में तथा डाटा के संगणकीकरण में अच्छा काम किया है ।
(केन्द्रीय संस्कृत बोर्ड की बैठक में डा० रामचन्द्र का नोट देखें पृष्ठ०३)
२. केन्द्रीय संस्कृत बोर्ड यह निगरान रख सकता है कि केन्द्रीय सरकार और इसकी एजेंसियों द्वारा परियोजना को दोहराया न जाए, तथा इसके परिणामों का समन्वय किया जा सकता है ।

३. गेट (Gatt) के साथ संयुक्त राज्य अमरीका जैसे विकसित देश हमारी पारंपरिक सामग्री, आयुर्वेदिक औषधियों, खाद्य उत्पादों इत्यादि को ले सकते हैं पेटेंटों को ले सकते हैं और रोगों को फैलने से रोक सकते हैं। जड़ीबूटियों तथा औषधि गुण वाले पेड़ों - नीम, तुलसी इत्यादि में इनका अधिकार बन सकता है।
४. सामग्री संग्रह करना आसान नहीं है। अनेक वस्तुएँ पुराणों, आगमों तथा अन्य विश्वकोशी कृतियों में बिखरी पड़ी है, काफी कार्य किया जा चुका है। अब इनमें सह सम्बन्ध बनाना और अधिक महत्वपूर्ण है।
५. पारम्परिक विज्ञान एवं प्रौद्यौगिकी तथा आधुनिक वैज्ञानिकों में विशेषज्ञता प्राप्त संस्कृत विद्वानों से सहयोग जरूरी है।
६. संस्कृत के योगदान को समझने के लिए बौद्ध तथा जैन-साहित्य और भारतीय भाषाओं में उपलब्ध सामग्री का भली प्रकार अध्ययन भी किया जाना है।

(१) १८ वीं सदी में हालैंड से एक विद्वान् केरल आए थे और उन्होंने लोगों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाली औषधीय जड़ीबूटियों का सावधानीपूर्वक अध्ययन किया और उन पर एक उत्कृष्ट कृति तैयार की जिसमें इन जड़ीबूटियों के संस्कृत नाम, मलयालम नाम तथा इनके वानस्पतिक नाम इनके चित्रों के साथ दिये गये हैं जिससे कि इन्हें पहचानने में आसानी हो। एक फोटोग्राफी रिप्रिन्ट उपयोगी होगा - क्योंकि सिर्फ दो या तीन प्रतियाँ ही उपलब्ध हैं।

(२) कुछ क्षेत्रों में जैसे चिकित्सा-शास्त्र में एक पेटेंट नीति उपलब्ध है। चिकित्सकों के वंशानुगत परिवारों में (विशेषकर केरल में) प्रयोग तथा पेशे से किसी नई उपलब्धि को एक पाण्डुलिपि में लिखा जाता है जो गुप्त रखी जाती है तथा जिसे अन्य व्यक्ति को नहीं दिया जाता है

सिवाए उस परिवार के किसी सदस्य के । कभी-कभी वे अपना लोकप्रिय नाम किसी अनन्य नाम में बदल लेते हैं - जैसा कि मन्त्रवाद में होता है, सिर्फ योग्य छात्रों को शिक्षण प्रदान किया जाता है । अक्सर पहचान आसान नहीं होती है । यहाँ तक कि सोम उपलब्ध नहीं था जिसकी किसी अन्य से पूर्ति करनी पड़ सकती है ।

प्राचीन भारत में प्रौद्योगिकी

भाषा में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का इतिहास सिन्धुघाटी की सभ्यता से प्रारम्भ होता है। यह सभ्यता प्रायः हड़प्पा सभ्यता के नाम से भी जानी जाती है। क्योंकि हड़प्पा और मोहनजोदड़ों दो प्रमुख स्थान हैं जिनका सिन्धु घाटी में पुरातात्विक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है।

हड़प्पा सभ्यता ने अपनी कुछ मूल विशेषताओं को प्रदर्शित किया और अपने नागरिक अनुभवों से गुजरी। इस सभ्यता के विषय में कुल मिलाकर देखा जाय तो यह ज्ञात होता है कि उनके पास प्रामाणिक कृषिकार्य और कृषि अर्थ व्यवस्था का पर्याप्त ज्ञान था। उन्होंने व्यवस्थित जीवनशैली, हस्तकौशल तथा उद्योगों से परिपूर्ण भौतिक सभ्यता विकसित की। उस काल के कुम्भनिर्माण कौशल ने प्रौद्योगिकीय प्रगति को दर्शाया। हड़प्पा काल के घड़े चक्रनिर्मित थे और विविध स्वरूप तथा आकार के होते थे। उत्खनन के समय प्राप्त विविध रूपरेखा और वर्णसंयोजनों से युक्त घड़ों के नमूनों से ज्ञात होता है कि उस काल के निर्माण तकनीकी उच्चसारीय और परिष्कृत था। उस काल के कुम्भकार घड़े को चमकाने की कला भी जानते थे। मोहनजोदड़ो से प्राप्त चमकाया हुआ घड़ा प्रायः इसका सर्वप्रथम नमूना है। उस काल के लोहकार मणिक बनाने (beading) फलक बनाने (sheet-making) कीलक लगाने (rivetting) कुण्डली बनाने (coiling), और ढलाई करने (casting) के तकनीक में निष्णात थे। इस प्रदेश में प्राप्त ढेर सारे लौह उपकरण (अधिकांशतः ताम्र और पित्तल के) से ज्ञात होता है कि हड़प्पा लोहकार लोहों के शीतलीकरण और तापानुशीतलीकरण प्रविधि (annealing) के अच्छी तरह जानते थे। लौहकर्म के अलावा हड़प्पाकाल के मानव खनिजों के आभूषण, शृंगारसामग्री और औषधि के रूप में उपयोग भी जानते थे।

वहाँ की नगर रचना, सुन्दर मार्ग, जल-संसाधन, सार्वजनिक स्नानगृह, जलसंग्रह व्यवस्था, नाली व्यवस्थाएँ उस काल के नगरजीवन, सामाजिक स्वास्थ्यरक्षा, सार्वजनिक स्वच्छता की उत्कृष्टता को प्रकट करती हैं। वे तन्तुनिर्माण और बुनने की कला भी जानते थे। वे पके ईंट और खरल निर्माण भी जानते थे। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने मापन और परिकलन तकनीक जो भवन निर्माण और वाणिज्यिक आदान प्रदान में अपेक्षित थी, को विकसित किया।

चित्रित धूसर बर्तन (*Painted Grey Ware*)

वैदिक मानवों के द्रव्यात्मक ज्ञान और अनुभवों के सन्दर्भ में 'चित्रित धूसर बर्तन' और लोहे के आविष्कार का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। कुछ विद्वानों के अनुसार वैदिक हिन्दुओं ने एक भव्य बर्तन का निर्माण कर उपयोग में लाया था जिसका नाम आज के पुरातात्विकों ने चित्रित धूसर बर्तन (*Painted Grey Ware*) रखा। यह अनुमान किया गया है कि सिन्धुगांग प्रदेशों में रहनेवाले वैदिक हिन्दू कुछ मूर्तिकाओं (*Ceramic*) का उपयोग करते थे जिनका प्रमाण ईरान, सिस्तान इत्यादि देशों के कुछ भागों में (ई.पू.द्वितीय सहस्राब्दी) होता था और स्थानीय रूप से विद्यमान मूर्तिका तकनीक का उपयोग करते हुए चित्रित धूसर बर्तन का निर्माण करने के लिए आवश्यक योग्य सेक-अवस्थाओं का विकास किया गया। यह बर्तन पहली बार 'अहिच्छत्र' में देखा गया और इसका काल १०००-४०० ई.पू. के बीच में आँका गया। सामान्यतः इस बर्तन का प्रसार पाश्चात्यदेशों में व्यापकरूप से हुआ। यह अंकित करने योग्य है कि इस बर्तन के बाद के काल के बहुत सारे लौह बर्तन उत्खनित प्रदेशों में पाये गये।¹

उत्तरभाग का काला चमकदार बर्तन

एक नई किस्म की मूर्तिका 'उत्तर भाग का काला चमकदार बर्तन' ई.पू. ६००-५०० के समय प्रचलन में आया। प्रारम्भ में वह आज के बिहार और उत्तरप्रदेश के भागों में प्रचलित हुआ और कालान्तर में उत्तर, मध्य और दक्षिणभारत के कुछ अन्य स्थानों में फैला। इस का निर्माण शीघ्रगति के चक्र द्वारा होता था। इस के लिए उत्कृष्ट चिकनी मिट्टी का उपयोग होता था और इस को अत्यधिक उष्णतावाली भट्टी में सुनियन्त्रित परिस्थितियों में किया जाता था। यह काली या चमकदार धूसर वर्णयुक्त मूर्तिका अपनी लोहीय शब्द के लिए प्रतिष्ठित था। इसका व्यापक प्रचलन और लोहे के साथ सम्बन्ध के बारे में विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

काँच

ऐसा लगता है कि ई.पू. प्रथम सहस्राब्दी के प्रथम पाद में मणि और चूड़ी जैसी काँच निर्मित वस्तुओं के निर्माण की कला प्रचलन में आयी। फिर भी, इस कला की प्रगति का प्रारम्भ सम्भवतः ई.पू. छठी शताब्दी से ही हुआ। तक्षशिला के भिर पर्वत के ई.पू. छठी शताब्दी के संस्तरों में अधिक संख्या में विविध आकार और वर्णों से युक्त काँच मणि मिले हैं। मौर्य साम्राज्य का उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश सीमा क्षेत्र होने के कारण तक्षशिलावासियों की काँचनिर्माण तकनीक विदेशी तकनीक से प्रभावित हो सकती थी। ई.पू. प्रथम शताब्दी और ई.स. प्रथम शताब्दी के बीच में तक्षशिला के 'सिरकप' के नया नगर में प्राप्त काँच वस्तुओं के कारण इस विचार का उद्भव हुआ। काँच निर्मित वस्तुओं का निर्माण अत्यन्त व्यापक था और उन ज्ञात ३० स्थानों में उज्जैन, नासिक, अहिच्छत्र, कोल्हापुर, कौण्डिन्य, ब्रह्मगिरि और अरिकमेडु प्रमुख हैं। प्रारम्भिक भारतीय काँच वस्तु निर्माताओं के पास जोड़ने के समय, साँचे में डालते समय, तापानुशीलता करते समय, दाग लगाते समय, स्वर्ण पन्नी बनाते समय अपेक्षित उष्णता परिमाण के कौशल्यपूर्ण नियन्त्रण को जानते थे। स्वर्ण पन्नी बनाने की पद्धति तो अत्युत्कृष्ट थी।

वनस्पति विज्ञान

वैदिक भारतीयों के पास शस्यों की आकृति और अन्तर् रचना के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान था । इस को प्रमाणित करने के लिए बहुत सारे साहित्यिक प्रमाण मिलते हैं । उन्होंने शस्यमूल, अंकुर, काण्ड, पर्ण, शाखा, पुष्प और फलों के विविध अंगों को पहचानकर उनका नामकरण भी किया । 'त्वक्' (वल्कल) और 'सार' के बीच में विद्यमान भिन्नता को वे जानते थे । संक्षेप में शस्यों को तीन गुटों में बाँटा गया । यथा - वृक्ष, ओषधि और वीरुध (विसर्पी पौधे) अथर्ववेद में पौधों को आकृति और अन्य लक्षणों के अनुसार सात उपविभागों में बाँटा गया है । यथा - वृक्ष, तृण, ओषधि, गुल्म, लता, अवतान एवं वनस्पति। इस काल के (ईसा के चतुर्थ शताब्दी से ११वीं शताब्दी) वनस्पतिशास्त्रीय ज्ञान की दृष्टि से अवलोकन योग्य कृति है पराशर महर्षि का 'वृक्षायुर्वेद' यद्यपि इस ग्रन्थ का काल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी अथवा ईसा की प्रथम शताब्दी माना गया तथापि निश्चित ही इसका संवर्धन बाद में भी हुआ । फिर भी, यह ग्रन्थ शस्य आकृति विज्ञान, शस्य क्रिया विज्ञान का संक्षिप्त विवरण और अंकुरण प्रक्रिया का सुस्पष्ट विवरण देता है । इस ने शस्यों की एक नामकरण पद्धति अपनायी जो तीन तत्त्वों पर आधारित है । यथा-शस्यों के वनस्पतिशास्त्रीय महत्व, औषधीय उपयोग और निवास या उत्पत्ति स्थान।¹

वनस्पतियों के गुण एवं उपयोगिता के अनुसार - प्रस्तानवती, स्तम्भिनी, प्रतानवती, अमुशवती, कन्दिनी, विशाक, जीवल, मधुमती एवं एकशुंग आदि अनेक जातियाँ बतलाई गई हैं । अथर्ववेद के कौशिक सूत्र में अनेक वनस्पतियों के नाम मिलते हैं । यथा - पलाश, कांपिल, वरण, अंगिर, अर्जुन, बेतस, शमी, दर्भ, दूर्वा, यव, तिल, इंगिड़, वीरिण, उषीर आदि ।

1. A Concise History of Science in India - 7.pp 379-80

प्राचीन भारत में औषधियों के नामकरण पुष्प, पत्र, फल, मूल आदि के अनुसार थे ।

चरक का वर्गीकरण

चरक ने अपने ग्रन्थ चरकसंहिता में और अधिक व्यवस्थित तथा विस्तृत रूप से वनस्पतियों का वर्गीकरण किया है । जो पृथ्वी को भेदकर निकलते हैं (जैसे वृक्ष, लता, वनस्पति इत्यादि) उन्हें उद्भिज अथवा उद्भिद कहते हैं । इनकी छाल, जड़ (मूल) फूल, फल आदि अंगों को औद्भिद् कहते हैं । औद्भिद् द्रव्य चार प्रकार के होते हैं ।

१. वनस्पति - जिनमें फूल के बिना ही फलों की उत्पत्ति होती है उसको वनस्पति कहते हैं । जैसे - गूलर, कटहल आदि ।
२. वानस्पत्य - जिनमें फूल के बाद फल लगते हैं उन्हें वानस्पत्य कहते हैं । जैसे- आम, अमरूद आदि ।
३. ओषधि - जो फल पकने के बाद स्वयं सूखकर गिर पड़े, उन्हें ओषधि कहते हैं । जैसे- गेहूँ, जौ, चना आदि । क्यों कि फल पकने के साथ ही इनकी पसलें जड़ सहित सूख जाती हैं ।
४. वीरुध - जिनके प्रतान (तन्तु) निकलते हैं, उन्हें वीरुध कहते हैं । जैसे गिलोय आदि । इसी वर्ग में लता, बेल, गुल्म अथवा झाड़ियों का भी समावेश होता है ।

वनस्पतियों के प्रयोग के अनुसार भी कुछ वर्गीकरण किये गये हैं - जैसे मूलिनी - जिनका मूल (जड़) अन्य अंगों के अपेक्षा प्रायोगिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है, इनकी संख्या सोलह है । फलिनी - जिनका फल प्रयोगार्थ विशेष महत्त्वपूर्ण है, इनकी संख्या उन्नीस है । इसी प्रकार चरक ने रोगों की चिकित्सा की दृष्टि से और मानव शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव की दृष्टि से वनस्पतियों (औद्भिद) के ५० वर्ग बताये हैं । मानव के आहार योग्य वनस्पतियों को सात वर्गों में बाँटा गया है ।

१. शूक धान्य - जिन पर शूक (वालें) निकलते हैं । जैसे-गेहूँ, जौ आदि।
२. शिम्बी धान्य - फली की जातिवाले जिन पर शिम्ब (छिलका) होते हैं - जैसे सेम, मटर, मूंग, उरद, अरहर आदि दालों की वनस्पतियाँ।
३. शाक वर्ग - पालक, बथुआ आदि शाक (साग)
४. फल वर्ग - विभिन्न प्रकार के फल ।
५. हरितवर्ग - विभिन्न प्रकार की हरी तरकारियाँ - लौकी, तरई आदि .
६. आहारयोगि वर्ग - तिल, मसाले आदि आहार के संस्कार के लिए जो द्रव्य उपयोग में लाये जाते हैं ।
७. इक्षुवर्ग - ईख (गन्ना) और उसकी विकृतियाँ ।

सुश्रुत का वर्गीकरण

शाक वर्ग -

सुश्रुत ने शाकों को दस वर्गों में बाँटा है -

१. मूल (मूली आदि) २. पत्र (जिनके पत्तों का उपयोग होता है) ३. करीर (जिनके अंकुर का उपयोग होता है जैसे बाँस का अंकुर) ४. अग्र (बेंत आदि) ५. फल ६. काण्ड (कुष्माण्ड आदि) ७. अधिरूढ (लता आदि)
८. त्वक् (मातुलुङ्ग आदि) ९. पुष्प (कंचनार आदि) १०. कवक

पुष्प वर्ग

सूत्रस्थान में सुश्रुत ने कमल की विविध प्रकारों का उल्लेख किया है जैसे - उत्पल (कमल), लाल कमल, कुमुद (श्वेत कमल), सौगन्धिका (सुगन्धयुक्त), कुवलय (थोड़ा नीला, श्वेत कमल) पुण्डरीक (श्वेत-पद्म) । इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के पुष्पों की विवेचना सुश्रुतसंहिता में की गई है । फूलों में कंचनार, शाल्मली, अगस्त, करीर, सहजन, लाल चन्दन, नीम, मुष्क, मूलिका-जुही, बकुल (मौल श्री), नागकेसर, चम्पक (चम्पा), किंशुक आदि सम्मिलित हैं।²

वनस्पति जीवन या वनस्पति विज्ञान का अध्ययन भारत में अति प्राचीन काल से ही देखा जा सकता है। वैदिक साहित्य वनस्पतियाँ, उनके विविध भागों उनके आन्तरिक और बाह्य स्वरूप से सम्बद्ध पारिभाषिक शब्दों का भण्डार है।

ऋग्वेद में वनस्पतियों का वर्गीकरण वृक्ष, ओषधि और वीरुध के रूप में किया गया है। यह वर्गीकरण सामान्यतः ६००० साल पूर्व किया गया। पश्चिम के वनस्पति विज्ञान के प्रारम्भकर्ता ग्रीक विज्ञानी थियोफ्रेस्टस ने ई.पू. ३०० वर्ष के समय में वनस्पतियों का वर्गीकरण किया।

पराशर ऋषि (ई.पू. १००) को भारतीय वनस्पति विज्ञान का जनक माना जा सकता है। उनका संस्कृतभाषा में लिखा गया वनस्पति विज्ञान का ग्रन्थ 'वृक्षायुर्वेद' में वनस्पति विज्ञान का गभीर ज्ञान निहित है। पराशर ऋषि ने सपुष्प वनस्पतियों को विविध परिवारों में बाँटा। इस वर्गीकरण का प्रमुख पहलू यह है कि यह वर्गीकरण आधुनिक वर्गीकरण से ठीक मिलता-जुलता है।³ यह ग्रन्थ सम्पूर्णतः उपलब्ध नहीं है किन्तु प्रथम और द्वितीय शताब्दी के ग्रन्थों में इसके उद्धरण देखे गये हैं। अतः इसका काल कम से कम २००० वर्ष पूर्व का माना जा सकता है। पराशर का वर्गीकरण इस प्रकार है, जैसे - शमीगणीय (फलियों वाले पौधे) पिपीलीकागणीय, स्वस्तिक-गणीय, त्रिपुर्ण-गणीय, मल्लिकागणीय और कूर्च गणीय।

शमी तु तुण्डमण्डला विषमविदलस्मृता ।

पञ्चमुक्तदलैश्चैव युक्तजालकवर्णितैः ॥

दशभिः केसरैर्विद्धात् पार्श्वबीजा भवेत् च सा ।

वक्रं विकर्णिकं पुष्पं भूकाशका पुष्पमेव सा ।

एतैश्च पुष्पभेदैस्तु भिद्यन्ते शमिजातयः ॥

- वृक्षायुर्वेद पुष्पांगसूत्र अध्याय

शमीगणीय (आधुनिक - लेगुमिनोसे (Leguminosae)

पराशर

आधुनिक

तुण्डमण्डल	पुष्प हाईपोगेमस् (Flowers hypogamus)
विशमविदल	असमान दलपुंज पिण्डक (Unequal corolla lobes)
पंच मुक्तदल	पांच मुक्त दल (five true petals)
युक्त जालिका	युक्त दलपुंज (Synsephalous corolla)
दशभिकेसर	दस केसर युक्त (Ten stamens)

स्वस्तिक गणीय (आधुनिक - क्रूसिफेरे Cruciferae)

पराशर

आधुनिक

तुण्डमण्डल	हाईपोगैमस् (Hypogamus)
पंक्तिबन्धन	पुष्पों का गुच्छाकार समूह (Flowers in racemose inflorescence)
जालकं स्वस्तिकाकारम्	कर्णिका स्वस्तिकाकार (Calyx crosswise)
चतुर्दलं मुक्तम्	चार मुक्त दल (Four free petals)
षण्मुक्त केसर	छः मुक्त केसर (Six free stamens)
द्विखर्व केसर	उन में से दो छोटा
फलं द्विपुटम्	फल दो टुकड़ों में फट जाता है
सद्बुधं सामिफलम्	सजीव अशिम्बफली (Live - alegume)
सन्धितं पलवल्कदेव	फलवल्कल से जोड़ा हुआ (Attached by a replum)

यहाँ प्रसिद्ध भारत विद्याविद् सर विलियं जोन्स् के कथन का उल्लेख करना आवश्यक है - 'यदि लिनियस - आधुनिक वर्गीकरण विज्ञान के जनक ने (१७६७-१७७८ ई.स.) संस्कृत सीख ली होती तो उनके द्वारा अपने नामकरण पद्धति को अधिक विकसित किया होता' ।

रसकोष (शस्यकोष)

पराशर ने भी रसकोष (शस्य कोष) के बारे में विस्तृत विवरण दिया है। यह आश्चर्यजनक है कि पराशर के द्वारा सूक्ष्मदर्शक के बिना जो विवरण दिया गया है वह अत्यन्त स्पष्ट है और रोबर्ट हुक् के द्वारा ई.स. १६६५ में सूक्ष्मदर्शक की सहायता से जो विवरण दिया गया है उस से भी अधिक विस्तृत है ।

कलावेष्टन (outer wall)

सूक्ष्म पत्रक (Inner wall)

रंजकयुक्त रसाश्रय (Sap with colouring matter)

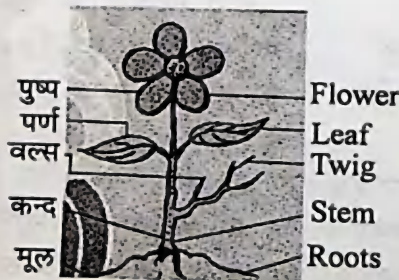
अण्वश्व (not visible to the naked eye)

रोबर्ट हुक (ई.स. १६६५)

शस्यों में कुछ कोष हैं जो आकृति में मधुमखड़ी के छत्ते के समान हैं ।

शस्य के अंग

तैत्तिरीयसंहिता और वाजसेनेयी संहिता में शस्य के विविध अंगों का स्पष्ट नामकरण के साथ उल्लेख है । जिसका उदाहरण नीचे दिया गया है ।



जल का अवचूषण

शस्यों के द्वारा द्रवरूप में आहार का अवचूषण करने का ज्ञान प्राचीन भारतीयों के पास था । इसका संस्कृत नाम पादप (जो पाद से पीता है) इसका प्रमाण है । महाभारत के शान्तिपर्व में (१२-१७७-१६) मूलों के द्वारा जल-अवचूषण-प्रक्रिया का विवरण मिलता है ।

वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्ध्वं जलमाददेत् ।

तथा पवनसंयुक्तः पादैः पिबति पादपः ।

जैसे कमल नाल को मुख में रखकर अवचूषण करने से पानी का उद्धरण किया जा सकता है ठीक वैसे ही पौधे वायु की सहायता से मूलों के द्वारा पानी का अवचूषण करते हैं ।⁴

शस्य विकृति विज्ञान

प्राचीन काल में शस्य रोग और उनकी चिकित्सा के बारे में पर्याप्त ध्यान दिया गया । वराहमिहिर के बृहत्संहिता (ईसा के छठी शताब्दी) में चतुर्विध शस्यरोगों का उल्लेख है । इनकी तुलना आधुनिक विवरण के साथ करें तो -

बृहत् संहिता

आधुनिक

- | | |
|-------------------|--|
| १. पाण्डु पत्रता | पर्णों के पाण्डुता (Chlorosis of leaves) |
| २. प्रवाल अवृद्धि | किसलयों का पतन (Falling of buds) |
| ३. शाखाशोष | डालियों का सूखना (Drying up of branches) |
| ४. रसस्रुति | रस निःस्राव (Exudation of sap) |

आनुवंशिकता

आनुवंशिकता सिद्धान्त और वंशानुगत संक्रमण का तथ्य प्राचीन भारतीयों को ज्ञात था ।

चरक और सुश्रुत ने विवरण दिया है कि फूल के फलित अण्ड में शस्य के सभी अंग सूक्ष्मरूप में विद्यमान हैं और बाद में उनका एक एक करके प्रकटीकरण होता है ।⁵

प्रकृति विज्ञान (Natural Science)

ऋतम् (प्राकृतिक नियम)

हमारे लिये प्रासंगिक प्रमुख वैदिक चिन्तनों में प्राकृतिक नियम (ऋतम्) का उल्लेख करना उचित होगा जिसका वैदिक ग्रन्थों में पर्याप्त विवरण मिलता है। वैदिक मन्त्रग्रन्थों ने इस नियम को ब्रह्माण्ड की वास्तविक नियन्त्रणशक्ति माना है और वैदिक देवताओं को भी इसके द्वारा नियन्त्रित या इसका नियन्ता माना गया है। प्राकृतिक घटनायें जैसे नदियों का बहना, रात्रि और दिन का होना को प्राकृतिक नियम में बताया गया है। यह आज मालूम हो गया है कि बैबिलोनियों को भी प्राकृतिक नियम का विचार ज्ञात था। यह उनके धार्मिक कार्यों से ज्ञात होता है। ग्रीक चिन्तकों जैसे हेराक्लिटस् (ई. पू. छठीं शतक) डेमोक्रीटस् (ई. पू. पाँचवी शतक) प्लेटो (४२७-३४७ ई. पू.) और अरस्तू (३८४ - ३२२ ई. पू.) ने इस प्राकृतिक नियम के विचार पर अपना मत प्रकट किया है। मानव की दुनियाँ और विराट् ब्रह्माण्ड का नियन्त्रण करने वाली गतियों में ऋतम् को दी गयी प्रमुखता और उसकी भूमिका एक महत्वपूर्ण तथ्य है। ऋग्वेद और बाद के वैदिक साहित्य से यह ज्ञात होता है कि वैदिक मानवों के पास प्राकृतिक क्रम के बारे में सहज निष्कर्ष था जो वैज्ञानिक अभिवृत्ति को बनाये रखने में अहं भूमिका निभाता है।

पञ्चभूत सिद्धान्त

एक और सिद्धान्त जो ऋग्वैदिक चिन्तन और प्रारम्भिक उपनिषदों के कुछ सैद्धान्तिक भागों से क्रमशः अभिव्यक्त हुआ वह है - पञ्चभौतिक सिद्धान्त। यह सिद्धान्त सम्भवतः परिपूर्ण और पञ्चतत्त्वों में विभक्त है। ये पञ्चतत्त्व-पृथिवी, अप्, तेजः, वायु और आकाश के नाम से जाने जाते हैं। इसका उद्देश्य बाह्यदृष्टि से अव्यवस्थित दिखनेवाले और विविध प्रतीत

होनेवाले पदार्थ (matter), गुण (qualities) और गति (motion) का सुसंगत प्रतिपादन है। यह निर्विरोध माना गया है कि पञ्चभूतों (जिसमें सभी सूक्ष्म और स्थूल, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, सीमित और असीमित पदार्थ अन्तर्निहित हैं) ने पदार्थ की समस्या को तर्कसंगत रूप से प्रतिपादन करने का आधार दिया।

अपनी व्यापक उपयोगिता के कारण यह पाञ्चभौतिक सिद्धान्त ही प्रायोगिक रूप से भारतीय चिन्तन के सभी अंगों में व्याप्त होने में समर्थ हुआ न कि अन्य कोई सिद्धान्त। अतः यह सभी प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों का एक अविभाज्य अंग बन गया। सांख्य, न्याय और वैशेषिक दर्शनों में पाञ्चभौतिक सिद्धान्त को विशेष महत्त्व दिया है। जैन, बौद्ध और चार्वाकों ने केवल चार भूतों को माना है। विशेष रूप से सांख्यशास्त्र को यहां उद्धृत करना आवश्यक है क्योंकि उन्होंने ने इन पञ्चभूतों के समान पञ्चतन्मात्राओं का विवरण दिया है। जो पञ्चभूतों के सूक्ष्मरूप हैं। सम्भवतः पञ्चतन्मात्राओं की कल्पना मन और पदार्थों के गुणधर्म को पृथक् दर्शाने के लिए की गयी होगी। यहाँ यह अवश्य उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य चिन्तन जैसे अरिस्टाटल के द्वारा किये गये ब्रह्माण्ड के प्रतिपादन में भी इन पञ्चतत्त्वों *earth, water, air, fire and ether* ने प्रमुख भूमिका निभाई है और लम्बे समय तक यूरोप और पश्चिम एशिया के चिन्तकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। तथापि विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि यह पाञ्चभौतिक सिद्धान्त न केवल सामान्य बौद्धिक चिन्तन के साथ जुड़ा रहा अपि तु मानवशरीर निर्माण से सम्बद्ध विचारों से भी जुड़ा रहा। इस सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय वैद्यकीय ग्रन्थ देखने योग्य हैं जहाँ सजीव और निर्जीव दोनों पदार्थों के क्षेत्र में इन पञ्चभूतों के द्वारा गर्भधारण से लेकर मानव शरीर निर्माण की प्रक्रिया तक का सम्यक् प्रतिपादन देखा जा सकता है। आहार वस्तु और अन्य द्रव्यों को पाञ्चभूतों

के अनुसार विभाजित किया गया और इन ग्रन्थों के अनुसार शारीरिक क्रियाओं में पञ्चभूतों के साथ साथ षड़रसों का भी महत्वपूर्ण योगदान है। यह है पञ्चभौतिक सिद्धान्त की व्यवहार्यता । भारतीय विज्ञान के विविध पहलुओं के अध्ययन में अन्तर्दृष्टि को प्राप्त करने के लिए इस सिद्धान्त का सम्यक् अवगमन नितान्त अपेक्षित है ।

होनेवाले पदार्थ (matter), गुण (qualities) और गति (motion) का सुसंगत प्रतिपादन है। यह निर्विरोध माना गया है कि पञ्चभूतों (जिसमें सभी सूक्ष्म और स्थूल, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, सीमित और असीमित पदार्थ अन्तर्निहित हैं) ने पदार्थ की समस्या को तर्कसंगत रूप से प्रतिपादन करने का आधार दिया।

अपनी व्यापक उपयोगिता के कारण यह पाञ्चभौतिक सिद्धान्त ही प्रायोगिक रूप से भारतीय चिन्तन के सभी अंगों में व्याप्त होने में समर्थ हुआ न कि अन्य कोई सिद्धान्त। अतः यह सभी प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों का एक अविभाज्य अंग बन गया। सांख्य, न्याय और वैशेषिक दर्शनों में पाञ्चभौतिक सिद्धान्त को विशेष महत्त्व दिया है। जैन, बौद्ध और चार्वाकों ने केवल चार भूतों को माना है। विशेष रूप से सांख्यशास्त्र को यहां उद्धृत करना आवश्यक है क्योंकि उन्होंने ने इन पञ्चभूतों के समान पञ्चतन्मात्राओं का विवरण दिया है। जो पञ्चभूतों के सूक्ष्मरूप हैं। सम्भवतः पञ्चतन्मात्राओं की कल्पना मन और पदार्थों के गुणधर्म को पृथक् दशनि के लिए की गयी होगी। यहाँ यह अवश्य उल्लेखनीय है कि पाश्चात्य चिन्तन जैसे अरिस्टाटल के द्वारा किये गये ब्रह्माण्ड के प्रतिपादन में भी इन पञ्चतत्त्वों *earth, water, air, fire and ether* ने प्रमुख भूमिका निभाई है और लम्बे समय तक यूरोप और पश्चिम एशिया के चिन्तकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। तथापि विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि यह पाञ्चभौतिक सिद्धान्त न केवल सामान्य बौद्धिक चिन्तन के साथ जुड़ा रहा अपि तु मानवशरीर निर्माण से सम्बद्ध विचारों से भी जुड़ा रहा। इस सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय वैद्यकीय ग्रन्थ देखने योग्य हैं जहाँ सजीव और निर्जीव दोनों पदार्थों के क्षेत्र में इन पञ्चभूतों के द्वारा गर्भधारण से लेकर मानव शरीर निर्माण की प्रक्रिया तक का सम्यक् प्रतिपादन देखा जा सकता है। आहार वस्तु और अन्य द्रव्यों को पाञ्चभूतों

के अनुसार विभाजित किया गया और इन ग्रन्थों के अनुसार शारीरिक क्रियाओं में पञ्चभूतों के साथ साथ पड़रसो का भी महत्वपूर्ण योगदान है। यह है पञ्चभौतिक सिद्धान्त की व्यवहार्यता । भारतीय विज्ञान के विविध पहलुओं के अध्ययन में अन्तर्दृष्टि को प्राप्त करने के लिए इस सिद्धान्त का सम्यक् अवगमन नितान्त अपेक्षित है ।

परमाणु विज्ञान

वैदिक विज्ञान में परमाणु ढाँचा :—

परमाणु को प्रकृति का एक ईकाई अंश माना जाता है जो आधुनिक विज्ञान और वैदिक विज्ञान दोनों के अनुसार किसी भी वस्तु की संरचना का संतुलित-निर्माण 'ब्लॉक' है। हम दोनों अर्थात् आधुनिक विज्ञान और वैदिक विज्ञान के अनुसार इसके ढाँचे का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

प्रथमतः हम संक्षेप में आधुनिक विज्ञान के अनुसार परमाणु ढाँचे पर विचार-विमर्श करेंगे और तत्पश्चात् वैदिक विज्ञान में दिए गए ढाँचे से इसकी तुलना करेंगे।

आधुनिक विज्ञान में परमाणु के ढाँचे को दो भागों में बांटा गया है, नाभिक और इलेक्ट्रॉन द्वारा निर्मित सैल। नाभिक आंतरिक हिस्सा है और इलेक्ट्रॉन के सैल बाहरी भाग है। बाहरी भाग अर्थात् इलेक्ट्रॉन के सैल संख्या में अधिकतम सात होते हैं जिन्हें के०, एम०, एन०, ओ०, पी०, आदि नाम से जाना जाता है। इन सैलों में इलेक्ट्रॉन की अधिकतम मैजिक संख्या २, ८, ८, १८, ३२, २२ अर्थात् कुल १०८ हैं। प्रत्येक घटक इसके परमाणु में इलेक्ट्रॉन की संख्या से जाना जाता है एक परमाणु में विद्यमान सभी कक्षों में कुछ इलेक्ट्रॉन को इसकी परमाणविक संख्या कहा जाता है। ये इलेक्ट्रॉन अपने विधारित कक्षों में नाभिक के इर्द-गिर्द घूमते हैं। जब भी कोई इलेक्ट्रॉन अपना कक्ष परिवर्तित करता है तो इसकी कुछ ऊर्जा समाप्त होती है या इसे कुछ ऊर्जा प्राप्त होती है। बाहरी कक्ष के आठ से अधिक इलेक्ट्रॉन नहीं होते। ये इलेक्ट्रॉन विभिन्न रासायनिक यौगिकों में अणुओं में रासायनिक बांड की संरचना के कारक हैं।

अणु का आन्तरिक भाग केन्द्रक है। केन्द्रक दो प्रकार के कणों से बना है जो कि घनात्मक प्रभारित कण तथा निष्क्रिय कण है। सबसे बड़ा घनात्मक प्रभारित कण प्रोटोन कहलाता है। प्रोटॉन, न्यूट्रॉन, तथा इलेक्ट्रॉन

का निर्माण करने वाले ब्लाक मेसान हैं। ये मेसान तीन प्रकार के हैं ।
(१) धनात्मक प्रभारित मेसान, जिन्हें 'एम+१' लिखा जाता है । ये प्रोटॉन बनाते हैं ।

(२) निष्क्रिय मेसान जिन्हें 'एम-०' लिखा जाता है तथा जो न्यूट्रॉन बनाते हैं ।

(३) ऋणात्मक प्रभारित मेसान जिन्हें 'एम-१' लिखा जाता है तथा जो इलेक्ट्रॉन बनाते हैं । धनाणु भी उसी प्रकार विद्यमान रहते हैं जिस प्रकार धनात्मक प्रभारित इलेक्ट्रॉन । अमरीकी वैज्ञानिकों द्वारा अभी हाल ही में क्वार्क अणु का पता लगाया गया है जो कि धनात्मक प्रभारी है क्योंकि यह शक्तिशाली इलेक्ट्रोमैग्नेट द्वारा आकर्षित हुआ जो इलेक्ट्रॉन के लिए ऋणात्मक प्रभारित है । मेसान तथा क्वार्क की संरचना का वर्णन आधुनिक विज्ञान द्वारा नहीं किया गया। केवल यह बताया गया है कि केन्द्रक (न्यूक्लीयस) में न्यूक्लीयर बाईंडिंग फोर्स है जिसे एन० एन०, पी० पी०, एन० पी० कहते हैं जिसके लिए न्यूक्लीयस बाउंड को एक एक कण में रखा जाता है । यह एक शक्तिशाली बन्धन है । परन्तु इस बंधन का कारण अज्ञात है ।

किन्तु जब हम अणु की संरचना की वैदिक विज्ञान द्वारा दी गई व्याख्या को देखते हैं तो हम पाते हैं कि वह आधुनिक विज्ञान द्वारा दी गई व्याख्या से कहीं अधिक गूढ़ तथा आधुनिक है । वैदिक विज्ञान द्वारा अणु की संरचना को तीन भागों में बाँटा गया है । यह तीन भाग इस प्रकार है। १. अध्यात्म २. अधिभूत तथा ३. अधिदैव । यह उल्लिखित किया जाता है कि भूटा का एक कण एक अणु है ।

अध्यात्म तत्त्व अणु के केन्द्रक का सर्वाधिक अंतस्थ तत्त्व है । यह अध्यात्म तत्त्व सभी ओर से अधिभूत तत्त्व के आवरण से आच्छादित है। प्रत्येक भूत केन्द्रक के अन्दर कम्पायमान तथा गतिशील अवस्था में है । इसलिए यह तत्त्व हिरण्मय तत्त्व के नाम से विदित है ।

‘हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्’

यहाँ शब्द हिरण्मय जड़ से चल अवस्था तक है । यह केन्द्रक के मुँह में केन्द्रीय तत्त्व है । अध्यात्म तत्त्व के अणु में सभी अध्यात्मिक कार्य होते हैं ।

तीसरा अंश आधिदेव तत्त्व है । आधिदेव अंश अपेक्षाकृत कुछ बड़े ठोस कणों से बना होता है जिसे देव की संज्ञा दी जाती है । ये अपेक्षाकृत बड़े ठोस कण अणु का आकार तथा रूप होते हैं । अतः अणु का यह सर्वाधिक भारी अंश आधिदेव अंश (द्योतनात् देवः) के नाम से विदित है। आधिदेव अंश सभी देवताओं के अधिष्ठान स्थान है जो अणु को ठोस आकार और रूप प्रदान करता है ।

जब यह विश्व का निर्माण करना चाहता है तो अध्यात्म तत्त्व ब्राह्मण से प्रोद्भूत होता है । यह परमपुरुष स्वयं अनन्त बन जाता है । यह गणितीय अवधारणा सही रूप में ऋग्वेद में दी गयी है । अब परमात्मा का यह शून्य अंश ही आत्मा है । यह आत्मा अंश अणु का केन्द्र है और अणु का अध्यात्म अंश कहलाता है । इसे पुरुष भी कहा जाता है । इस पुरुष की संरचना निम्नलिखित मंत्र में दी गई है ।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥

विष्णु को पुरुष माना जाता है जो कर्म में अपनी सर्जनात्मक ऊर्जा सवितृ से प्राप्त करते हैं जो अपने हजारों अक्षों पर से हजारों दिशाओं में अपनी ऊर्जा का प्रसारण करते हैं । प्रत्येक अक्ष एक हजार उप-अक्षों में विभाजित है जिन्हें सहस्रपात् कहा जाता है । प्रत्येक पात् में दश अंगुलियाँ होती हैं और यह आगे दश से भी अधिक उप-अक्षों में उप-विभाजित होती हैं । प्रत्येक अंगुली की लम्बाई सोलह तरंग लम्बाई है । प्रत्येक उंगली की थपकी संघन स्थिति को प्राप्त करती है ।

आधिभूत आवरण के बाद, सर्वाधिक बाहरी आवरण अथवा खोल आधिदैव अंश है। इस भाग में कुछ अपेक्षाकृत कुछ बड़े कण हैं जिन्हें त्रिवर्त्मा कहा जाता है अर्थात् तीन मेसॉन - एम, एम, एम, जिसका पूर्व में उल्लेख किया गया है। ये तीन मेसान *अपाम्नापात्* को उत्पन्न करते हैं और वैश्वराग्नि अर्थात् नचिकेताग्नि का मूल है। नचिकेताग्नि में तीन प्रकार के आयन होते हैं जिनमें *नाम न* (न्यूट्रॉन) *सिका* (प्रोटॉन) *इटा* (इलेक्ट्रॉन) हैं। इटा कण इस अणु (इद्रजा बभूव हिरण्यगर्भ सूक्त) है।

अणु का सर्वाधिक बाहरी आवरण होने के कारण यह सभी प्रकार के व्यवहार पर नियंत्रण रखता है।

इस अणु में चौदह प्रकार के भूतसर्ग हैं। केन्द्र में सात लोक भूः भूवः, स्वः, महः, जनः, तपः सत्यम् विद्यमान हैं और अणु के इलेक्ट्रॉनिक अंश में सात कक्षाएँ हैं। पहली पाँच लोक सत्यम्, तपः, जनः, महः, स्वः अध्यात्म अंश में हैं और उनसे स्वर्ग लोक बनता है जो कि द्विलोक भी कहा जाता है। भुवः लोक मध्य भाग है जो कि अंतरिक्ष लोक कहा जाता है। भू लोक अणु का सर्वाधिक ठोस अंश है।

ये अणु और अणुकण जो आकाश में स्वतंत्रता से विचरण करते हैं पाँच तरह के तत्त्व बनाते हैं जिन्हें वेदशास्त्र में पंचमहाभूत कहा जाता है। जब दो या दो से अधिक अणुओं को रासायनिक दृष्टि से सुदृढ़ता के साथ जोड़ा जाता है तो वे ठोस अवस्था में रहते हैं। इस ठोस अवस्था को क्षिति कहा जाता है, जब जोड़ या बन्धन किसी तरह ढीला पड़ जाता है तो अणु एक दूसरे के साथ छोड़ने लग जाते हैं। तत्त्व की इस अवस्था को द्रव्य (आधुनिक विज्ञान में तरल कहा जाता है।) जब यह बन्धन और अधिक कमजोर हो जाता है तथा अणु वातावरण में स्वतंत्रता के साथ विचरण करने लग जाते हैं तो तत्त्व की इस अवस्था को वायु (गैस) कहा जाता है। जब न्यूक्लियस या इलेक्ट्रॉन् के कमजोर बन्धन के कारण अणु का कोई भी

कण अणु से बाहर निकल जाता है तो अणु धनात्मक या ऋणात्मक रूप से आवेशित हो जाता है । ये आवेशित अणु इयन्स कहलाते हैं । भौतिक इयनिक रूप को अग्नि कहा जाता है ।

आध्यात्म अणु के ढांचे का प्रारम्भिक और अत्यन्त ही आन्तरिक हिस्सा है। इसीलिए प्रकृति के प्रत्येक कण में आत्मा हमेशा मौजूद होती है। इसीलिए कहा जाता है कि प्रत्येक कण में भगवान् उपस्थित है । पुरुष भगवान् का अंग है और वह कण के अन्दर मौजूद होता है । इसीलिए प्रत्येक कण को प्रकृति में एक जीवन्त कण कहा जाता है जिसका अपनी अवधि अपना जीवन होता है जिसके बाद इसका क्षय हो जाता है । इसीलिए वस्तु के रेडियो एक्टिव क्षय के आधे जीवन के बारे में इस वेदशास्त्र में भी उल्लेख है । यह कहना बेकार है कि यह वेद शास्त्र के न्यूक्लियर फिजिक्स के कुछ बिन्दुओं का अत्यन्त संक्षिप्त विवरण है । विस्तृत अध्ययन वेदों और उपनिषदों, विशेष तौर पर *श्वेतवतरोपनिषद्* के मंत्रों के गहन अर्थ को ध्यान में रखते हुए किया जा सकता है ।

उपर्युक्त के अलावा वेद वाङ्मय विशेष तौर पर संहिताओं, ब्राह्मणों और उपनिषदों में सृजन के विज्ञान पर गम्भीरता से ध्यान देने की आवश्यकता है और वेदान्त जैसे दार्शनिक साहित्य में वैज्ञानिक पहलुओं के अध्ययन की भी आवश्यकता है । इस सम्बन्ध में *छांदग्योपनिषद्* में त्रिविधकर्म के सिद्धान्त और वेदान्तसार में पञ्चगुण, (पंचीकरण) करने के सिद्धान्त तथा अन्य दार्शनिक पाठों को उदाहरणार्थ दर्शाया जा सकता है । यह उल्लेख किया जा सकता है कि प्रमुख भौतिक शास्त्री डा० राजा रामण जैसे वैज्ञानिकों ने वेदान्त और भौतिक शास्त्र में बहुत कुछ सामान्य बातें पायी हैं । एस (१) की वेदान्तिक व्याख्या बहुत सूक्ष्म है और हम बाद में देखेंगे अन्य सैटों के साथ इसकी बहुत सूक्ष्म तरीके से पारस्परिक क्रिया है जैसा कि शंकर (८वीं शताब्दी) और रामानुज ने व्याख्या की है । यही नहीं डा०

रामण बौद्ध शास्त्र को आधुनिक विज्ञान के बहुत निकट पाते हैं । वे लिखते हैं - “यह देखा गया है कि पहले का बौद्ध दर्शन आधुनिक समय के वैज्ञानिक दर्शन के काफी निकट है और अनेक प्रमुख वैज्ञानिकों ने इस ब्रह्माण्ड की प्रकृति और इसके विभिन्न संघटकों के बीच पारस्परिक क्रिया पर बौद्ध दर्शन की स्पष्ट झलक के लिए अपनी सराहना व्यक्त की है । विज्ञान की हाल की खोजों ने ब्रह्माण्ड और इसमें मनुष्य की स्थिति के बारे में उपयुक्त दृष्टिकोण प्राप्त करने के लिए बौद्ध ज्ञानशास्त्र के अध्ययन को अनिवार्य बना दिया है । बौद्ध विचार के सन्दर्भ में वैज्ञानिक दर्शन, (पृष्ठ-२१) दर्शनशास्त्र के अध्ययन के महत्व का उल्लेख करते हुए आईसटाइन ने भी कहा है “भौतिक विज्ञानी का सबसे बड़ा कर्तव्य ब्रह्माण्ड के इन प्रारम्भिक विधानों को जानना है जिनसे पूर्णतया निगमन द्वारा इस ब्रह्माण्ड का निर्माण किया जा सके । इन विधानों तक पहुंचने के लिए कोई तार्किक पथ नहीं है, केवल अनुभव के सरल ज्ञान पर आधारित अन्तर्बोध से ही इन विधानों तक पहुंचा जा सकता है । (अल्बर्ट आईसटाइन (आइडियाज एंड ओपिनियन्स)

भारतीय परमाणुवाद

उत्कर्ष काल और उसके बाद की शताब्दियों में न्यायदर्शन और वैशेषिकदर्शन और कुछ बौद्ध एवं जैन चिन्तनों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है जिन्होंने प्रबल मीमांसीय स्थानों के प्रतिपादन में भारतीयों के परिपूर्ण बौद्धिकशक्ति को प्रकाशित किया । इनमें स्थूल जगत् के मूलभूत तत्त्व ‘परमाणु’ के बारे में तर्कसंगत विवरण देखे गये हैं । विशेषतः न्याय-वैशेषिक ग्रन्थों में विस्तार से और तार्किक पद्धति से परमाणुओं के संयोजन से स्थूल पदार्थों के निर्माण का विवरण दिया गया है। यथा - द्रव्यणुक और अणुक । यह माना गया है कि चार महाभूत - पृथ्वी, अप्, तेजस्, और

वायु अपनी शाश्वत स्थिति में अणुरूप में ही रहते हैं। द्रव्यणुक का भौतिक कारण के रूप में दो परमाणुओं को माना गया जो स्वयं (द्रव्यणुक) एक कार्य है। वैसे ही त्र्यणुक के निर्माण का कारण तीन द्रव्यणुक हैं और फिर यह त्र्यणुक एक कार्य है। कारण कार्य का उत्पादन करता है और इस प्रकार श्रृंखला आगे चलती है। भारतीय परमाणुवाद की उल्लेखनीय पहचान उसके साथ जुड़ा हुआ कारण द्रव्य है और न्याय-वैशेषिक के अनुसार दो समान परमाणुओं का संयोजन अन्य किस्म के परमाणु के रहने पर ही होता है और यह अन्य परमाणु अप्रधान कारण बन जाता है और यह निश्चित रूप से दर्शाता है कि एक ही द्रव्य में विविध गुण विद्यमान हैं। यह भी बताया गया है कि त्र्यणुक में विद्यमान द्रव्यणुकों का रचनात्मक व्यूह द्रव्य में विविध गुणों का उत्पादन करता है। इस तरह की गभीर संकल्पना जिसे आधुनिक रासायनिक दृष्टि से भी नहीं किया जा सकता है, ग्रीक परमाणुवाद सहित अन्य देशों के प्रारम्भिक परमाणु विचारधारा में भी नहीं देखी जा सकती हैं।

पश्चिम ने ग्रीकों के परमाणविक विचारों के प्रतिपादक के रूप में 'लूक्रोशियस' (ई० पू० प्रथम शताब्दी) को पाया। किन्तु बाद में अज्ञात कारणों से ये विचार एक हजार छः सौ सालों तक प्रचलन में नहीं रहे और केवल ईसा के सत्रहवीं शताब्दी तक ही गस्सेण्ड, बोयले न्यूटन और हुईजेन्स ने कुछ परिवर्तन के साथ इन विचारों को पुनरुज्जीवित किया। दो हजार साल तक अर्थात् ईसा की अट्ठारहवीं शताब्दी तक वैशेषिक परमाणुवाद के बहुत सारे समर्थक हुए हैं। यद्यपि कभी-कभी भारतीय परमाणुवाद वाद-विवाद के कारण किनारा किया हुआ लगता है तथापि वह विविध मनोवृत्ति के विद्वानों को समर्थक या विरोधी के रूप में अपनी ओर आकृष्ट करने में पर्याप्त शक्तिशाली रहा।

ज्योतिष और खगोलशास्त्र

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्व्या विहिताश्च यज्ञाः ।

तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं, यो ज्योतिषं वेद सवेदयज्ञान् ॥

- वेदांग ज्योतिष

वैदिक काल में यज्ञों को सही समय पर करने के लिये ज्योतिष का विकास हुआ । वास्तव में यह प्राचीन यज्ञ व्यवस्था ही है जो अब एक परम्परा अथवा धार्मिक रुचि के रूप में मानी जाती है । यही समस्त मानव ज्ञान-विज्ञान की जननी है । इसी से मानव ज्ञान के आदि स्रोत वेदों का जन्म हुआ । वैदिक वाङ्मय में ज्योतिष को विशेष महत्त्व दिया गया है । वेदों के छः अंगों में - शिक्षा, व्याकरण, छन्दः, निरुक्तम् और कल्पः के साथ ज्योतिषम् भी एक अंग है । ज्योतिष के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिये उसे वेद-पुराण का नेत्र माना गया है । इस कारण ज्योतिष वेद के अन्य पाँच अंगों में श्रेष्ठ माना जाता है -

शब्दशास्त्रमुखं ज्योतिषं चक्षुषौ श्रौतयुक्तं निरुक्तं च कल्प करौ ।

यातु शिक्षा तु वेदस्य वा नासिका पादपद्मद्वयं छन्द आर्थैर्बुधैः ॥

‘प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रं चन्द्राकौ यत्रसाक्षिणौ’ - ज्योतिषशास्त्र के प्रत्यक्ष होने का प्रमाण सूर्य तथा चन्द्रमा देते हैं । आकाश स्थित ज्योति पुंजों का निरीक्षण, परीक्षण, अध्ययन और उनके रहस्यों को जानने के उद्देश्य से ज्योतिषविद्या का जन्म हुआ ।

भारतीय ज्योतिष के प्रतिष्ठित लेखक डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने ऋग्वेद और शतपथब्राह्मण आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर बताया है कि अब से कम २८,००० वर्ष पूर्व भारतीयों ने खगोल और ज्योतिष शास्त्र का मन्थन किया था। वे आकाश में चमकते हुए नक्षत्र-पुंज, राशि-पुंज, देवता-

पुंज, आकाशगंगा और नीहारिका आदि के नाम, रूप, वर्ण, आकृति से पूर्णतया परिचित थे ।”

ऋग्वेद के मन्त्रों में ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और द्यौलोक की कल्पना दी गयी है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के एक मन्त्र में ब्रह्माण्ड रचना के बारे में बताया गया है -

लोक अनन्त और अपार है । पृथ्वी के ऊपर अन्तरिक्ष और अन्तरिक्ष के ऊपर द्यौलोक है । सूर्य इस द्यौलोक में भ्रमण करता है । अन्तरिक्ष में केवल वायु गमन करती है । मेघ, वायु और विद्युत् ये तीनों भी अन्तरिक्ष और द्यौलोक के मध्य गमन करते हैं । सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों का स्थान भी द्यौलोक है ।”

ज्योतिष की प्राचीनता की प्रशंसा विदेशी विद्वानों ने भी मुक्तकण्ठ से की है। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक 'What India Can teach us' (हिन्दी अनुवाद - भारत की विश्व को देन) में इस विषय की चर्चा करते हुए लिखा है - “ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि उस परब्रह्म ने ऋतुचक्र के महीनों के निर्धारण के लिए चन्द्रमा को नियुक्त किया है । सूर्य उसके (चन्द्रमा के) उदयास्त को भली भाँति जानता है (सूर्य के द्वारा ही चन्द्रमा की कलाएँ घटती-बढ़ती रहती हैं।) ऋग्वेद से ही हमें सूर्य और चन्द्र के बारे में एक अन्य ऋचा मिलती है जिसमें कहा गया है कि सूर्य और चन्द्रमा ये दोनों अपनी ही (आकर्ष) शक्ति के सहारे बारी बारी से एक के बाद एक उदित और अस्त (पूर्व से पश्चिम की ओर) होते रहते हैं । इनमें से एक (सूर्य) सारे विश्व को सदा देखता रहता है जबकि दूसरा (चन्द्र) बार-बार नवोदित होता रहता है । चन्द्रमा के इस प्रत्येक बार के नये उदय से ही ऋतुचक्र और १२ मासों का निर्धारण होता है ।”

भारतीय साहित्य के प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् प्रोफेसर वेबर (Weber) का मत है कि भारतीयों को ईसा से कम से कम २७८० वर्ष पूर्व ज्योतिष

सम्बन्धी महत्वपूर्णज्ञान प्राप्त था । केसिनी, वेली, जेण्टिल और फ्लेफेयर का मत है कि भारतीय ज्योतिषियों के द्वारा प्रस्तुत प्रेक्षणों के आधार पर यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि उन्होंने नक्षत्रलोक का निरीक्षण ईसा से कम से कम तीन हजार वर्ष पूर्व किया था ।

काउण्ट वार्नस्टर्न (Count Bjornstjerna) का मत है कि भारतीय ज्योतिष कलियुग प्रारम्भ होने से पूर्व ही विकसित हो चुके थे । उनका कहना है कि हिन्दुओं के अनुसार वर्तमान कलियुग ईसा के जन्म से ३१०२ वर्ष पूर्व २ फरवरी को २ बजकर २७ मिनट ३० सेकेण्ड पर आरम्भ हुआ था । उस समय एक विशेष ग्रह योग उपस्थित था मंगल, बुध, गुरु और शनि अस्त थे और शुक्र भी दृष्टिगोचर न था । वेली के अनुसार आधुनिक वैज्ञानिक गणनाओं के आधार से भी इस ग्रहयोग की सत्यता प्रमाणित होती है । इस सम्बन्ध में विचारणीय यह है कि ग्रहों और नक्षत्रों की स्थिति का इतना सही और सूक्ष्म ज्ञान प्रत्यक्ष निरीक्षण द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

वेली ने एक और उदाहरण देकर भारतीय ज्योतिष ज्ञान की प्राचीनता की पुष्टि की है । सन् १६८७ ई० में जुलाई १४ वें के समय सूर्य ग्रहण तथा ज्योतिष सम्बन्धी अन्य अनेक प्राचीन सारणियाँ भारत के विभिन्न स्थानों और व्यक्तियों से अलग-अलग प्राप्त करके यूरोप भेजी गयीं थीं । इन सभी में असाधारण साम्य पाया गया था । इन गणनाओं में और वेली द्वारा की गई गणनाओं में ४३८३ वर्ष का अन्तराल था फिर भी इनके परिणामों में एक मिनट का भी अन्तर नहीं मिलता। इस आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय ज्योतिष का विकास कई हजार वर्ष पूर्व हो चुका था ।¹

ज्योतिषशास्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन

आधुनिक उच्च विज्ञान भी यह कहता है कि काल की गणना गति से तथा गति की गणना काल से होती है क्योंकि ये दोनों तत्त्व अन्योन्याश्रित हैं। यह वैज्ञानिक सिद्धान्त वेदकाल में ही ज्ञात था। तभी ऋग्वेद में कहा है -

द्वादशारं नहि तज्जराक्ष वव्रति चक्रं परिद्यामृतस्य ।

आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अतसत्शतानि विंशतिश्च तस्युः ॥

(ऋग्वेद १.१६४)

इसीलिए वेदांग ज्योतिष में इस शास्त्र को काल विधान शास्त्र कहा है-

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्व्याविहितश्च यज्ञाः ।

तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम् ॥

अर्थात् वेद यज्ञ के लिए प्रवृत्त हैं। वे यज्ञ उचित काल में ही किये जाने चाहिये। अतः इस काल विधान शास्त्र को जो जानता है वही वेद को जानता है। म० म० श्री मधु सूदन ओझा जो अपने समय में वेद के विश्वविख्यात विद्वान् के रूप में आदृत थे, उनका कहना था कि जो ज्योतिष नहीं जानता वह वेद पढ़ने का अधिकारी ही नहीं है। यह शास्त्र पाताल, भूमि तथा आकाश एवं भूत, वर्तमान तथा भविष्य इन छहों क्षेत्रों में विश्वजनीन तथा एकजनीन वस्तु स्थिति का दर्शक है।

यह शास्त्र नितरां प्रयोगात्मक है। इसके सिद्धान्तों की परीक्षा प्रयोगों द्वारा सदा होती रहती है। ऐसा कभी नहीं हुआ होगा कि पंचांग में लिखी अमावस्या की रात में चन्द्र दिखे अथवा पूर्णिमा की रात में चन्द्र न दिखे। अमावास्या तथा पूर्णिमा को छोड़ कर अन्य तिथियों में सूर्य तथा चन्द्र का

ग्रहण लग जाए । अतः इसकी वैज्ञानिकता की पुष्टि के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं । प्रयोग-काल में प्रत्यक्ष, आगम और युक्ति, इन तीनों प्रमाणों का ज्योतिष सहयोग लेता है ।

कहना न होगा कि भारतीय ज्योतिष ही विश्व में आदि काल से ज्ञान विज्ञान का ज्योति स्तम्भ रहा है । यह वैज्ञानिकों के अनुसार सभी विज्ञानों का पितामह है ।

प्राचीन काल से ज्योतिष के तीन विभाग हैं - सिद्धान्त, संहिता तथा होरा ।

सिद्धान्त

भास्कराचार्य अपने सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थ में कहते हैं -

त्र्युट्यादि प्रलयान्तकालगणनामानप्रभेदः क्रमा -

चारश्चद्युसदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथा सोत्तराः ।

भूधिष्ण्यग्रहसंस्थितेश्च कथनं यन्त्रादि यत्रोच्यते

सिद्धान्तः स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धे बुधैः ॥

(म०अ० श्लो० सं० - ६)

सिद्धान्त में सूक्ष्माति-सूक्ष्म त्रुटिकाल से लेकर प्रलय तक के काल की गणना, भूगोल के स्थान निर्णय, ग्रहों की गतियों के विवेचन अनेक प्रकार के प्रश्नोत्तर पृथिवी, नक्षत्र तथा ग्रहों की स्थिति के गणित एवं दर्शन तथा इनके साधन के रूप में यन्त्रादि का विवेचन है । इसके विषय में सूर्य सिद्धान्त आर्यभटीय, वटेश्वर सिद्धान्त, लल्ल सिद्धान्त, ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त, सिद्धान्त शिरोमणि तथा सिद्धान्त तत्त्वविवेक आदि अनेक ग्रन्थ हैं ।

संहिता

संहिता स्कन्ध में ग्रहों के चार के अनुसार जगत् पर प्रभाव, भूकम्प, उल्का, परिवेष, जल विज्ञान, भूमि शोधन, भूगत खनिजों का ज्ञान, पर्यावरण ऋतु विज्ञान, वर्षालक्षण, विविध धूमकेतुओं के चार एवं फल, पशु -

पक्षियों की चेष्टाओं के फल, वृक्ष पर्वत आदि के लक्षण तथा फल, धातु विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, अंग लक्ष्य तथा सामुद्रिक आदि का जागतिक तथा विभिन्न देशों पर होने वाले प्रभावों का अध्ययन किया जाता है इस विषय में गर्ग संहिता, समास संहिता तथा वराहमिहिर की बृहत्संहिता आदि ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं ।

होरा

इन तीनों में अधिक विस्तृत है होरा स्कन्ध । इसका संक्षिप्त प्रयोजन वराहमिहिर के लघुजातक ग्रन्थ के अनुसार -

यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः पङ्क्तिम् ।

व्यञ्जयति शास्त्रमेतत् तमसि द्रव्याणि दीप इव ॥

जैसे अन्धकार में जलता हुआ दीप वहाँ विद्यमान वस्तुओं को प्रकाशित करता है वैसे ही पूर्वजन्म में संचित किये गये शुभ और अशुभ कर्मों के ऊपर यह शास्त्र प्रकाश डालता है । वस्तुतः होरास्कन्ध के जातक, प्रश्न, मुहूर्त और निमित्त ऐसे चार अंग हैं ।

होरा स्कन्ध के स्वरूपावलोकन से स्पष्ट होता है कि तीनों स्कन्धों का समाहार इस में किया गया है । जैसे भगवान् गर्ग कहते हैं -

गणितं जातकं शाखां यो वेत्ति द्विजपुङ्गवः ।

त्रिस्कन्धज्ञो विनिर्दिष्टः संहितापारगश्च सः ॥

होरा शास्त्र के अधीन जैमिनिसूत्र, बृहत्पाराशर होरा, विविध जातक तथा बृहज्जातक आदि सैंकड़ों ग्रन्थ हैं । यवन जातक भी महत्वपूर्ण है । वराहमिहिर ने यवन जातक के सिद्धान्तों का आर्य ज्योतिष के सिद्धान्तों में बहुत मिश्रण किया है जिससे सामान्य ज्योतिषी को आर्य तथा यवन

सिद्धान्तों का पता ही नहीं चलता। भारत के दूर पश्चिमोत्तर क्षेत्र में यवन लोग रहते थे। वे सब हिन्दू ही थे तथा विश्वामित्र की सन्तान थे जो शाप वश आर्य संस्कारों से हीन होकर म्लेच्छ माने जाते थे। तभी वराहमिहिर ने कहा है -

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम् ।

ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विजः ॥

ज्योतिष के आदि प्रवर्तक १८ आचार्यों में एक यवन भी थे। होरा शब्द अहोरात्र के आदि तथा अन्त के अक्षरों का लोप होने से बना है। अंग्रेजी में 'Hour' शब्द का साम्य इस बात का प्रमाण है कि यह शब्द होरा ही है।

होरा शास्त्र के अन्तर्गत अनेक विभाग हैं, जैसे - जातक, ताजक, प्रश्न, मुहूर्त, केरल तथा रमल। इनमें ताजक ताजकिस्तान से तथा रमल अरब से आया है। केरल को आज कल केरल ही कहा जाता है। संहिता और होरा को संयुक्त रूप में आज कल फलित ज्योतिष कहा जाता है। इसी प्रकार गणित तथा सिद्धान्त को संयुक्त रूप से गणित ज्योतिष कहा जाता है।

ज्योतिष के प्रणेता आचार्य

भारतीय ज्योतिष का विकसित रूप इसके अध्ययन और अन्वेषण में संलग्न महान् ऋषियों की तपस्या और साधना का सुफल है काश्यप मतानुसार इस शास्त्र के प्रणेता आचार्य अट्ठारह हैं।

सूर्यः पितामहो व्यासो वसिष्ठोऽत्रि पराशरः ।

कश्यपो नारदो गर्गो मरीचिर्मनुरङ्गिरा ॥

लोमशः पौलिशश्चैव च्यवनो यवनो भृगुः ।

शौनकोऽष्टादश होते ज्योतिःशास्त्रप्रवर्तकाः ॥

सूर्य, पितामह (ब्रह्मा), व्यास, वसिष्ठ, अत्रि, पराशर, कश्यप, नारद, गर्ग, मरीचि, मनु, अंगिरा, लोमश, पौलिश, च्यवन, यवन, भृगु और शौनक हैं। पराशर ने इन अठारह नामों में से पुलस्त्य का नाम और जोड़कर ११ आचार्यों को ज्योतिष का प्रवर्तक बताया है। नारद ने सूर्य को छोड़कर शेष सत्रह को ही स्वीकार किया है। इन में से कुछ आचार्य संहिता और सिद्धान्त दोनों के रचयिता हैं और कुछ एक विषय के।

(किसी भी विज्ञान के संसार में प्रचारित हुआ है।)

नक्षत्र-पुंजो की पहचान और गणना -

अथर्ववेद के अनुसार गर्गमुनि ने सर्वप्रथम गगन-मण्डल के नक्षत्र-पुंजों की पहचान और गणना की। उन्होंने नक्षत्रों की सहायता से सूर्य और चन्द्रमा के परिभ्रमण मार्ग-राशिचक्र को २८ भागों में विभक्त किया। चन्द्रमा को आकाश का एक परिभ्रमण पूरा करने में २७ दिन ८ घण्टे २१ मिनट लगते हैं। नक्षत्रों के नामकरण उनके आकार के अनुसार किया गया। ये नक्षत्र हैं -

(१) अश्विनि (२) भरणी (३) कृत्तिका (४) रोहिणी (५) मृगशिरा (६) आर्द्रा (७) पुनर्वसु (८) पुष्य (९) आश्लेषा (१०) मघा (११) पूर्वाफाल्गुनी (१२) उत्तराफाल्गुनी (१३) हस्ता (१४) चित्रा (१५) स्वाती (१६) विशाखा (१७) अनुराधा (१८) ज्येष्ठा (१९) मूला (२०) पूर्वाषाढा (२१) उत्तराषाढा (२२) अभिजित् (२३) श्रवण (२४) धनिष्ठा (२५) शतभिषा (२६) पूर्वाभाद्रपद (२७) उत्तराभाद्रपद और (२८) रेवती। अथर्ववेद के अतिरिक्त मैत्रायणी संहिता में भी २८ नक्षत्रों की गणना है। तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण में केवल २७ नक्षत्रों का उल्लेख है। सम्भवतः उन्होंने राशिचक्र के विभाजन और गणना की सुविधा के लिये एक नक्षत्र अभिजित् को छोड़ दिया होगा।

बारह राशियाँ

नक्षत्रों की एक-एक आकृति की कल्पना करके उनकी आकृति के अनुसार समस्त नक्षत्र-मण्डल या राशिचक्र को १२ राशियों में विभक्त किया गया। उन बारह राशियों के नाम इस प्रकार हैं -

- | | |
|-----------------------------------|-------------------------|
| (१) मेष (मेढ़ा सा आकार) | (२) वृषभ (बैल की आकृति) |
| (३) मिथुन (स्त्री-पुरुष का जोड़ा) | (४) कर्क (केकड़ा) |
| (५) सिंह (शेर) | (६) कन्या |
| (७) तुला (तराजू) | (८) वृश्चिक (बिच्छू) |
| (९) धनु | (१०) मकर (घड़ियाल) |
| (११) कुम्भ (घड़ा) और | (१२) मीन (मछली) |

वेदों में राशियों के नाम तो नहीं मिलते परन्तु राशिचक्र के १२ भागों और नक्षत्रों की आकृतियों के वर्णन हैं।

तिथिगणना की वैज्ञानिकता

वेदांग ज्योतिष काल में सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि की गति के आधार पर तिथि, मास और वर्ष की जो व्यवस्था की गई उसके हजारों वर्ष चलते रहने के बाद भी ऋतु परिवर्तन में कोई अन्तर नहीं पड़ा। मुसलमानों के महीने बराबर घूमते रहते हैं। मुहर्रम कभी जाड़ों में आता है कभी गर्मी में या कभी बरसात में। पाश्चात्य देशों की गणना में भी बराबर हेर-फेर अनिवार्य रूप से करना पड़ा है। हमारा सम्पूर्ण पंचांग, तिथि, वार, नक्षत्र आदि सभी सूर्य-चन्द्र की गति के अटल सिद्धान्त पर आधारित हैं। सम्पूर्ण खगोल को ३६० कल्पित भागों में विभक्त किया गया है। सूर्य और चन्द्रमा के बीच में प्रति बारह अंश के अन्तर के अनुपात से एक तिथि मानी जाती है। अमावस्या तिथि को सूर्य और चन्द्रमा एक सूत्र पर रहते हैं। सूर्य और चन्द्रमा में जब तक १२ अंश का अन्तर रहे तब तक एक तिथि अर्थात् १२ अंश के अन्तर पर प्रतिपदा, १२-२४ के अन्तर पर द्वितीया इस प्रकार घूमते-घूमते ३०

तिथियों में ३६० अंश पूरे हो जाते हैं और पुनः अमावस्या में सूर्य और चन्द्रमा एक सूत्र पर आ जाते हैं। चन्द्रमा के भ्रमण का मार्ग कभी भूमण्डल के निकट होता है और कभी दूर, इस से तिथियों की अवधि भी घटती-बढ़ती रहती है। भूमण्डल के समीप का घेरा छोटा होने के कारण १२ अंश जल्दी पूरे हो जाते हैं। परन्तु चन्द्रमा के दूर हो जाने पर घेरा बड़ा होता है और तदनुसार १२ अंश पूरा होने में अधिक समय लगता है। अतः आकाश में चन्द्र मण्डल की स्थिति से तिथियों का ज्ञान आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। पर आधुनिक कलेण्डर की तारीखों के ज्ञान के लिये ऐसी कोई स्थिति नहीं है।

सुस्पष्ट वासर गणना

इसी प्रकार भारत में प्रचलित वार, उनके नाम और क्रम भी पूर्णतया ग्रहों और उनकी स्थिति पर आधारित हैं। वैसे वैदिक साहित्य में मास के दो पक्षों का तो उल्लेख है किन्तु सप्ताह तथा सात वारों का नहीं। ये वार और उनके नामों का प्रचलन कब से प्रारम्भ हुआ यह बताना कठिन है। परन्तु महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के अनुसार “वारों की स्थिति भी सुव्यस्थित प्रकार से है। प्राचीन ज्योतिष में ग्रहों की स्थिति इस प्रकार मानी गई है - पृथ्वी से आरम्भ कर पहले चन्द्रमा, उसके पश्चात् बुध, उसके बाद शुक्र, तदनन्तर सूर्य, उसके ऊपर क्रमशः मंगल, बृहस्पति और सबसे अन्त में शनि है। इस क्रम के अनुसार प्रातः सूर्योदय से प्रारम्भ कर एक-एक ग्रह की एक-एक होरा (१ होरा १ घण्टे की होती है।) मानी जाती है। अहोरात्र का संक्षिप्त रूप आदि और अन्त के अक्षर कम करके ‘होरा’ प्रचलित है। २४ घण्टे में सातों ग्रहों की होराओं के तीन चक्कर होकर तीन ग्रहों की और होराएँ व्यतीत होकर दूसरे दिन के सूर्योदय काल में चौथे ग्रह की होरा आयेगी और वह वार उसी के नाम पर होगा। अभी जो ग्रहसंख्या बतलायी गयी है वह नीचे से ऊपर की ओर भी यहाँ उसके विपरीत क्रम

है - सूर्य, शुक्र, बुध, चन्द्र, शनि, बृहस्पति, मंगल । तो अब सोचिये, आज यदि रविवार है तो वह सूर्य की होरा से आरम्भ है । तीन चक्कर काटकर २२वीं होरा फिर सूर्य की होगी । २३वीं शुक्र की २४वीं बुध की होकर वह अहोरात्र समाप्त हो जायेगा । तब दूसरे दिन प्रातः काल चन्द्रमा की होरा होगी और रविवार के दूसरे दिन चन्द्रवार होगा । अब चन्द्रमा से प्रारम्भ कर तीन चक्कर काट कर २२वीं होरा फिर चन्द्रमा की आई । २३वीं सर्वोच्चा शनि की और २४वीं बृहस्पति की होकर वह अहोरात्र समाप्त हो जायेगा । अब तीसरे दिन प्रातः काल मंगल की होरा होगी, इसलिये वह मंगलवार कहलाएगा । इसी क्रम से सातों दिन गिन सकते हैं । इस प्रकार हमारे पंचांग पूर्णतया सुव्यस्थित एवं विज्ञान सिद्ध हैं ।”

प्राचीन भारत के कालविभाजन

प्राचीन भारत में कालविभाजन अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ किया गया था । गैलिलियो (ई०स० १५६४-१६४२) द्वारा पहली बार समय का विभाजन 'सेकेण्ड के रूप में किया गया ऐसा पाश्चात्य विद्वानों का अभिप्राय है । किन्तु महाभारत में हम देख सकते हैं कि सेकेण्ड का भी विभाग किया हुआ है । जैसे -

काष्ठा निमेषा दश पञ्च चैव त्रिंशत् काष्ठा गणयेत् कलां ताम् ।

त्रिंशत्कलाश्चपि भवेन्मुहूर्तो भागः कलायाः दशमश्च यः स्यात् ॥

त्रिंशन्मुहूर्तन्तु भवेदहश्च रात्रिश्च संख्या मुनिर्भिः प्रणीता ।

मासः स्मृतो रात्र्यहनी च त्रिंशत् संवत्सरो द्वादशमास उक्तः ॥

संवत्सरे द्वे त्वयने वदन्ति संख्याविदो दक्षिणमुत्तरश्च ।

- महाभारतम्

अमरकोष, विष्णुपुराण, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में भी समय की गणना दिखाई देती है ।

इसका तात्पर्य नीचे दी गयी तालिका से हम प्राप्त कर सकते हैं -

१/४ निमेष	= १ त्रुटि
२ त्रुटि	= १ लव
२ लव	= १ निमेष (एक बार फलक झपकने में जितना समय लगे वह समय)
५ निमेष	= १ काष्ठा
१० काष्ठा	= १ कला
४० कला	= १ नाडिका
२ नाडिका	= १ मुहूर्त
१५ मुहूर्त	= १ अहोरात्र
७ अहोरात्र	= १ सप्ताह
१५ अहोरात्र	= १ पक्ष
२ पक्ष	= १ मास
१२ मास	= १ वर्ष

दिन और मासों का नाम निश्चित करने के लिये भी चन्द्रमा की कलाओं ग्रहों और नक्षत्रों की गति पर आधारित पूर्णतया वैज्ञानिक पद्धति विकसित की गई थी। यह जानकर आश्चर्य होता है कि काल का यह अति सूक्ष्म ज्ञान कैसे सम्भव हो सका ? वेदांग ज्योतिष एवं ज्योतिष के तत्कालीन अन्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अलावा इसकी चर्चा कल्प-सूत्र, निरुक्त, व्याकरण ग्रन्थों, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति एवं महाभारत में भी है। याज्ञवल्क्य स्मृति में नवग्रहों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है -

सूर्यः सोमो महीपुत्रः सोमपुत्रो बृहस्पतिः ।

शुक्रः शनैश्चरो राहुः केतुश्चेति ग्रहाः स्मृताः ॥

पृथ्वी का गोलत्व

आर्यभट्ट प्रथम ने अपने ग्रन्थ आर्यभट्टीय के चतुर्थ प्रकरण गोलपाद में यह घोषणा की है कि पृथ्वी गोल है और वह अपनी धुरी पर परिभ्रमण करती रहती है। यह घोषणा करनेवाले वे विश्व में प्रथम व्यक्ति थे। उन्होंने पृथ्वी के आकार, गति एवं परिधि ४९६७ योजन और व्यास १५८१ योजन बताया है। एक योजन का मान ५ मील होने के अनुसार दोनों क्रमशः २४८३५ मील और ७९०५ मील होते हैं।

सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण का सही कारण

आर्यभट्ट ने सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण का सही कारण बताते हुये कहा है कि चन्द्रमा और पृथ्वी की परछाई पड़ने पर ग्रहण लगता है, राहु और केतु के प्रकोप से नहीं। उन्होंने सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहणों की गणना करने की रीति भी बतलाई। यही रीति आज के पंचांगों में उपयुक्त होती है।

आर्यभट्ट ने यह बतलाया कि चन्द्रमा स्वयं नहीं चमकता अपितु सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है।

साथ ही यह भी बताया कि सूर्य से कितने अन्तर पर चन्द्रमा, मंगल और बुध आदि दृष्ट होते हैं। उन्होंने उत्तरीध्रुव (सुमेरु) और दक्षिणी ध्रुव (बड़वामुख) की स्थिति पर भी प्रकाश डाला।

भास्कराचार्य के अनुसार चन्द्रग्रहण में चन्द्र ग्राह्य है और ग्राहक है भूच्छाया जिसको ग्रन्थों में भूभा कहा गया है। जैसे प्रकाशमान पदार्थ द्वारा किसी भी भौतिक पदार्थ से अवरोध करने पर छाया उत्पन्न होती है वैसे ही तेजोगोलक सूर्यबिम्ब से अवरोध होने पर आकाश में एक घनान्धकार रूपी सूची उत्पन्न होती है और वह सूची चन्द्र की कक्षा को पारकर बाहर आ जाती है। जैसे -

भानोर्विम्बपृथुत्वादपृथुपृथिव्याः प्रभा हि सूच्यग्रा ।

दीर्घतया शशिकक्षामतीत्य दूरं बहिर्याता ॥

ऐसे भूविम्ब से चन्द्रकक्षा बहिःस्थिति बिन्दु तक की लम्बी भूच्छायासूची को भूभा कहा गया है । पूर्व की ओर जानेवाला चन्द्र इस भूभा सूची में जब प्रवेश करता है तब सूची के अन्दर आनेवाले चन्द्र विम्ब के ऊपर सूर्यकिरण नहीं गिरने पर जो कालिमा दिखायी देती है उसी को चन्द्रग्रहण की ग्रास कहते हैं ।

सूर्यग्रहण में सूर्य ग्राह्य है और ग्राहक चन्द्रविम्ब है । अमान्त में रविकक्षा के नीचे अपनी कक्षा में स्थित चन्द्र मेघ की तरह रविबिम्ब का आच्छादन करता है। इस कारण से लोग सम्पूर्ण प्रकाशमान सूर्य को नहीं देख पाते हैं । अर्थात् यहाँ भी रविबिम्ब में कालिमा दिखाई पड़ती है और उसी को सूर्यग्रहण की ग्रास कहा जाता है । यथा -

छादयत्यर्कमिन्दुः विधुं भूमिभा

छादकश्छाद्यमानैक्यखण्डं कुरु ।

तच्छरोनं भवेच्छन्नमेतद्यथा

ग्राह्यहीनावशिष्टं तु स्वच्छन्नकम् ॥

भट्टकमलाकर के अनुसार आकाशस्थ ग्रहबिम्बों में केवल सूर्य ही प्रकाशवान् ग्रह है अन्य सभी सूर्यरश्मि से प्रकाशित होकर चमकते रहते हैं। यथा -

तेजसां गोलकः सूर्यः ग्रहाण्यम्बुगोलकाः ।

प्रभावन्तो हि दृश्यन्ते सूर्यरश्मिप्रदीपिताः ॥

महाभारत में ग्रहों और नक्षत्रों के बीच विद्यमान दूरी और उनकी गति का स्पष्ट प्रमाण मिलता है । इस ब्रह्माण्ड के सभी ग्रह और नक्षत्र परिभ्रमण करते हैं। जैसा कि -

एवं त्वहरहर्मेरुं सूर्यचन्द्रमसौ ध्रुवम् ।

प्रदक्षिणमुपावृत्य कुरुतः कुरुनन्दन ॥

ज्योतींषि चाप्यशेषेण सर्वाण्यनघसर्वतः ।

परियान्ति महाराज ! गिरिराजं प्रदक्षिणम् ॥ २८ ॥

- महाभारतम्, वनपर्व, १६३ अ०।

अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा प्रतिदिन इस मेरु गिरि का परिभ्रमण करते हैं। अन्य नक्षत्र भी इन की परिक्रमा करते हैं। इसी अध्याय में वेदव्यास ने अहोरात्रि और मासों के परिवर्तन का कारण में सूर्य और चन्द्रमा को ही माना है। यथा-

स मासान् विभजन् काले बहुधा पर्वसन्धिषु ।

तथैव भगवान् सोमो, नक्षत्रैः सह गच्छति ॥ ३ ॥

अर्थात् चन्द्रमा नक्षत्रों के साथ मेरुपर्वत की परिक्रमा करता है और पर्वसन्धि समय में मासों का विभाजन करता है।

पृथ्वी की गतिशीलता

पृथ्वी स्थिर नहीं है अपितु अपनी धुरी पर निरन्तर घूमती रहती है इस तथ्य का पता आर्यभट्ट ने ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी के पाश्चात्य वैज्ञानिक कोपर्निकस से एक हजार वर्ष पूर्व ही अपनी आयु के २३ वें वर्ष में लगा लिया था। इस तथ्य की जानकारी के लिये उनके पास कौन से उपकरण थे और कौन सी विधि काम में लाई गई थी इसका कहीं उल्लेख नहीं है। अलौकिक एवं आश्चर्यजनक यह खोज कैसे सम्भव हो सकी, इस सम्बन्ध में उन्होंने आर्यभटीय में दो श्लोकों में स्वयं लिखा है कि "पृथ्वी, रवि, चन्द्र और देवता प्रसाद तथा स्वतः की मति ने सत्य ज्ञान प्राप्त करने की

दृष्टि प्रदान की।" अपनी इस निर्भीक और उस काल में असम्भव सी प्रतीत होनेवाली घोषणा के लिये कोई तर्क या प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते हुये केवल इतना लिखा है कि जिस तरह चलती नाव में बैठे हुये व्यक्ति को किनारे के स्थिर पदार्थ-वृक्ष, प्राणी, पर्वत आदि उल्टी दिशा में जाते हुये प्रतीत होते हैं और नाव के स्थिर होने का भ्रम होता है उसी तरह गतिशील पृथ्वी स्थिर और नक्षत्र उल्टी दिशा में गतिमान होते हुये दिखाई देते हैं।

सूर्य के बारे में धारणा

ऐतरेय ब्राह्मण के समय में ही भारतीय इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि सूर्य एक है और वह कभी अस्त नहीं होता। पृथ्वी का जो भाग सूर्य के सामने होता है वह प्रकाशित होता है और वहाँ दिन होता है, तथा दूसरी ओर रात्रि। जब दूसरी ओर दिन होता है तो पूर्व प्रकाशित भाग पर रात्रि। दिन और रात्रि का यह क्रम बराबर चलता रहता है।

उन दिनों सूर्य के विषय में भी विभिन्न देशों में विचित्र धारणाएँ प्रचलित थीं। अनेक पाश्चात्य विद्वान् ज्ञान-विज्ञान के प्रादुर्भाव का मूलस्थान यूनान को मानते हैं। वहाँ ईसा से ६०० वर्ष पूर्व तक यह भ्रामक धारणा प्रचलित थी कि प्रतिदिन एक नया सूर्य जन्म लेता है और मरता है।^अ

सृष्टि की आयु की गणना

किसी भी पूजा, अर्चना अथवा अन्य अनुष्ठान को हम संकल्प मन्त्र के साथ करते हैं। यह मन्त्र हमें आज की तिथि के साथ ही कालगणना के व्यापकता का भी परिचय करा देता है -

ॐ आद्य ब्रह्मणोऽहनि द्वितीयपरार्धे श्री श्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे
अष्टाविंशतितमे कलियुगे प्रथमचरणे जम्बूद्वीपे भारतवर्षे भरतखण्डे,
आर्यावर्तप्रदेशे अमुकसंवत्सरे अमुकमासे अमुकपक्षे अमुकतिथौ अमुक वासरे
अमुकक्षेत्रे आदि।

अ) धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-४, पी.वी.काणे से उद्धृत

इस संकल्प मन्त्र के द्वारा यह स्मरण कराया जाता है कि ब्रह्मा के इक्ष्यानवे वर्ष के प्रथम दिन के द्वितीय परार्ध, श्री श्वेतवाराहकल्प और वैवस्वतमन्वन्तर के कलियुग के प्रथम चरण के इतने वर्ष, मास, पक्ष और दिन बीत चुके हैं अर्थात् वर्तमान सृष्टि (मनुस्मृति के अनुसार) के विक्रम संवत् २०५४ तक १,९७,२९,४९,०९८ वर्ष बीत चुके हैं। भारतीय पौराणिकों ने सृष्टि की वर्तमान आयु बताने के साथ ही उसकी सम्पूर्ण आयु, सृष्टि के आरम्भ से उसके अन्त तक के समय का भी हिसाब लगाकर उसका आकलन चार अरब, बत्तीस करोड़ वर्ष किया है। पुराणों में सृष्टि की आयु की गणना निम्नलिखित प्रकार से की गई है -

$$\begin{aligned}\text{सम्पूर्ण सृष्टि} &= १४ \text{ मन्वन्तर} + १५ \text{ सन्ध्याएँ} \\ &= १४ \times ७१ \text{ चतुर्युगी} + १५ \text{ सन्ध्याएँ} \\ &= १४ \times ७१ \times ४३२०००० \text{ वर्ष} + १५ \text{ सन्ध्याएँ}\end{aligned}$$

प्रत्येक दो मन्वन्तरों के बीच एक सन्ध्या पड़ती है। एक सन्ध्या का परिमाण सतयुग के समान १७२८००० वर्ष होता है। अतः -

$$\begin{aligned}\text{सम्पूर्ण सृष्टि} &= १४ \times ७१ \times ४३२०००० + १५ + १७२८००० \text{ वर्ष} \\ &= ४२९४०८०००० + २५९२००० \text{ वर्ष} \\ &= ४३२००००००० \text{ वर्ष।}\end{aligned}$$

इस समय सृष्टि के आरम्भ से ६ मन्वन्तर पूरे बीत चुके हैं और सातवें मन्वन्तर की २७ चतुर्युगी बीत चुकी है। २८वीं चतुर्युगी चल रही है। विक्रम संवत् २०५४ तक ५०९८ वर्ष बीत चुके हैं। मन्वन्तरों की गणना के लिए भारतीय ज्योतिषियों ने निम्न व्यवस्था की है -

$$\begin{aligned}३६० \text{ मानव अहोरात्र} &= १ \text{ मानव वर्ष} \\ ४३२००० \text{ मानव वर्ष} &= १ \text{ कलियुग} \\ २ \text{ कलियुग} &= १ \text{ द्वापर (८६४००० वर्ष)} \\ ३ \text{ कलियुग} &= १ \text{ त्रेता (१२९६००० वर्ष)} \\ ४ \text{ कलियुग} &= १ \text{ सतयुग (१७२८००० वर्ष)}\end{aligned}$$

१ सतयुग	= १ सन्ध्या
१० कलियुग	= १ चतुर्युग या महायुग
७४ चतुर्युग	= १ मन्वन्तर

यह क्रम और आगे भी चलता है :

१००० चतुर्युग	= १ कल्प = १ ब्राह्म दिन
२ कल्प	= १ ब्राह्म अहोरात्र
७१० कल्प	= १ ब्राह्म वर्ष
७२००० कल्प	= १०० ब्राह्म वर्ष = १ ब्राह्म आयु
८००० ब्राह्म वर्ष	= १ ब्राह्म युग
१००० ब्राह्म वर्ष	= १ विष्णु दिन
१००० विष्णु दिन	= १ रुद्र दिन

रुद्र की आयु अनन्त है क्योंकि काल और रुद्र वस्तुतः एक ही हैं और कालचक्र अनादि अनन्त है । अतः अनन्त काल की इकाई एक रुद्र दिन मानी गयी है । इस काल की गणना आधुनिक उपकरण जैसे उपकरणों के बिना ज्योतिषियों ने कैसे प्राप्त की यह महान् आश्चर्य की बात है । फिर भी हिन्दू ज्योतिर्विदों और पौराणिकों ने आज से हजारों वर्ष पूर्व सृष्टि की आयु के जो आकलन किये थे वे आधुनिक विज्ञान की कसौटी पर कसे जाने पर सत्य के बहुत निकट पाये जाते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक साधनों के विकसित न होने तक भारतीय ज्योतिषियों की यह गणना 'अत्युक्ति' समझी जाती थी, इसकी खिल्ली उड़ाई जाती थी क्योंकि बाईबल में वर्तमान सृष्टि के आरम्भ को मात्र ईसा के ६००० वर्ष पूर्व तक का माना गया था । परन्तु जैसे-जैसे वैज्ञानिक उपकरणों का विकास होता गया, पाश्चात्य वैज्ञानिकों को अपना मत परिवर्तित करना पड़ा । १९२१ में प्रो० रैले ने कहा कि अब तक की खोजों ने पृथ्वी पर जीवन की सीमा को एक अरब वर्ष तक बढ़ा दिया है और भूगोल की उत्पत्ति अब से कई अरब वर्ष पूर्व मानी जायेगी। यूरेनियम सरीखी धातुएँ जिनकी आयु का पता लगाने में विज्ञान समर्थ हुआ है विश्व के इस सुदीर्घ भूतकाल की पुष्टि करती है । बेंगलूरु के समीप

स्थित कुछ पत्थरों की उम्र ३००० अरब वर्ष हैं यह आधुनिक पुरातात्विकों द्वारा ही सत्यपित है । यह जानने के बाद पृथ्वी की आयु के विषय में प्राचीन भारतीयों द्वारा की गई गणना अवास्तविक नहीं है ऐसा हम स्पष्ट रूप से मान सकते हैं ।²

गुरुत्वाकर्षण शक्ति

गुरुत्वाकर्षण शक्ति का संकेत नारदीयसूक्त में प्राप्त होता है तथापि इस विषय में स्पष्ट उल्लेख प्रश्नोपनिषद् में प्राप्त होता है । प्रश्नोपनिषद् कहता है - पृथिवी की शक्ति मनुष्य को खड़ा रहने में अपान वायु की सहायता करती है-

“आदित्यो ह वै ब्राह्मः प्राण

उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः ।

पृथिव्या या देवता सैषा पुरुषस्य

अपानमवष्टभ्यान्तरा

यदाकाशः स समानो वायुव्यनिः । प्रश्न० ३/८

इस पर भाष्य लिखते हुये आदि शंकराचार्य ने लिखा है - “यदि पृथिवी देवी इस शरीर को अपान वायु के द्वारा सहायता न करे तो यह शरीर या तो इस ब्रह्माण्ड में तैरेगा या फिर नीचे गिर जायेगा ।”

तथा पृथिव्यामभिमानिनी या देवता प्रसिद्धा सैषा पुरुषस्य अपानमपान-वृत्तिमवष्टभ्याकृष्य वशीकृत्याध एवापकर्षणेनानुग्रहं कुर्वती वर्तत इत्यर्थः अन्यथा हि शरीरं गुरुत्वात् पतेत्सावकाशे वा उद्गच्छेत् ॥” शा० भाष्य।

यहाँ स्पष्ट है की आदि शंकराचार्य गुरुत्वाकर्षण शक्ति को स्पष्ट रूप से जानते थे । अन्यथा वे इतनी विशद व्याख्या केवल कल्पना के आधार पर नहीं कर सकते । शङ्कराचार्य का काल ७-९वीं सदी है । तो क्या हम अब भी यही कहेंगे कि न्यूटन ही इस सिद्धान्त के प्रतिपादक है, कदापि नहीं, यह हमारे अपने ही ज्ञान का अपमान होगा ।

प्रकाश की गति

सूर्य की किरणों को पृथिवी पर पहुँचने में जितना समय लगता है वह प्रकाश की गति कही जाती है। आधुनिक वैज्ञानिक बहुत शोधों के बाद इसकी गति को निश्चित कर पाए। लेकिन यह तथ्य भी वेदों से अछूता नहीं है। ऋग्वेद (१-५०-४) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सूर्य की किरणें बहुत ही जल्दी पूरे संसार में फैल जाती है। इस पर सायणाचार्य की टिप्पणी है कि - “सूर्य किरणे अर्थात् प्रकाश २२०२ योजन आधे निमेष में यात्रा करते हैं” -

“तथा च स्मर्यते - योजनानां सहस्रे द्वे द्वे शते द्वे च योजने ।

एकेन निमिषार्धेन क्रममाण नमोस्तु ते ॥ (सा०भा० ऋ०)

सर मो० शिर विलियम्स १ योजन को ९ मील मानते हैं। भारत सरकार के अनुसार ९.०६२५ मील है। इस के अनुसार प्रकाश की गति - १८६४१३.२२ मील प्रति सेकण्ड निश्चित होती है। जबकि अद्यावधि मान्य गति - १८६३०० मील प्रति सेकण्ड है। इस प्रकार सायण द्वारा उद्धृत गति लगभग वही है जो आज सिद्धान्त रूप में मान्य है। सायण का काल १५वीं शताब्दी है जबकि यह मान्य सिद्धान्त २०वीं सदी की है।

किसी भी विज्ञान के दो पक्ष होते हैं - एक सिद्धान्त तथा दूसरा प्रयोग। इसी रूप में गणित ज्योतिष सिद्धान्त और फलित ज्योतिष उसका प्रयोग है। अतः फलित ज्योतिष भी पूर्ण विज्ञान है।

मानव जाति के इतिहास में सबसे बड़ा आविष्कार तब हुआ था जब अंगिरा ऋषि ने अग्नि का आविष्कार किया था। यह ध्यान देने योग्य है कि अंगिरा ज्योतिष प्रवर्तक १८ आचार्यों में से एक हैं। इसके पश्चात् दूसरा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आविष्कार तब हुआ था जब बौधायन ऋषि (बौ १८/४२) ने शून्य ९ अंक तथा उनके दशगुणोत्तर १८ स्थान क्रम का निश्चय किया था। आज सम्पूर्ण विज्ञान क्षेत्र उनका ऋणी है। इसके अतिरिक्त

ब्रोधायन ने समकोण त्रिभुज के सिद्धान्त का भी पता लगाया था जिसे पाश्चात्य जगत् द्वारा पैथागोरस का सिद्धान्त कहा जाता है जबकि पैथागोरस ब्रोधायन से सैंकड़ों वर्ष बाद में हुए थे । इन समस्त सिद्धान्तों का प्रथम आर्यभट्ट ने व्यावहारिक उपयोग किया था । आर्यभट्ट को पृथ्वी के स्व अक्ष पर घूमने का भी पता था ।

अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत् ।

अचलानि आनि तद्वत् समपश्चिमगानि लङ्कायाम् ॥

इस प्रकार नाव की उपमा से उन्होंने इस सिद्धान्त को सिद्ध किया सूर्य सिद्धान्त (२/२४) में एक ऐसा सूत्र है जो बिना बीज गणित के बन ही नहीं सकता। अतः इसका श्रेय भी भारतीय ज्योतिष को ही है । ज्यामिति के क्षेत्र में आर्यभट्ट ने व्यास परिधि के अनुपात का पता लगा कर पाई का उदाहरण प्रस्तुत किया था -

चतुरधिकं शतमष्टगुणं द्वाषष्टिस्तथा सहस्राणाम् ।

अयुतद्वयविष्कम्भस्यासन्नो वृत्तपरिणाहः ॥

भास्कराचार्य ने सिद्धान्त शिरोमणि में भूगोल की केन्द्रीय आकर्षण शक्ति का वर्णन किया है । उसी उदाहरण को छः सौ वर्ष बाद न्यूटन ने दोहराया है । भास्कराचार्य का वचन है -

आकृष्टिशक्तिश्च मही तपायत् स्वस्थं गुरुस्वाभिमुखं स्वशक्त्या ।

आकृष्यते तत् पततीव भाति समे समत्वात् न पतत्वियं खे ।

स० शि गोल ३

इसके अतिरिक्त भास्कराचार्य ने तात्कालिक गति सिद्धान्त का भी वर्णन किया है ।

समीपतिध्यन्तसमीपचालनं विधोस्तु तत्कालजयैव युज्यते ।

अतः इस सिद्धान्त का आविष्कार न्यूटन को मानना पाश्चात्यों का पक्षपात ही है ।

भारतीय युग, संवत्सर, मास, तिथि, वार आदि सभी कालावयव पूर्ण वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं। भारतीय मासों की प्रत्येक पूर्णिमा एक निश्चित नक्षत्र में ही होती है।

आज कल सम्पूर्ण विश्व में वारों के नाम सात ही हैं। इनका क्रम भी सर्वत्र समान ही है। अतः निश्चित है कि इस सिद्धान्त की उत्पत्ति संसार के किसी अन्य देश में उपलब्ध नहीं है। केवल भारत में आर्यभटीयम् (काल १६) तथा सूर्य सिद्धान्त में (१२१७८) इसकी उपपत्ति उपलब्ध है -

मन्दादधः क्रमेण स्युश्चतुर्धा दिवसगधिवाः ॥ सू.सि०

सप्तैते होरेशाः शनैश्चराद्या यथाक्रमशीघ्राः ।

शीघ्रकपाच्चतुर्धा भवन्ति सूर्योदयादिनपाः ॥ आ.भ०

इससे सिद्ध है कि सात वारों के नाम तथा क्रम का सिद्धान्त भारत से ही संसार में प्रचारित हुआ है।

वैदिक खगोलशास्त्र

ऋग्वेद में कुछ ऐसे सांकेतिक मन्त्र और उदाहरण देखे गये हैं जो वैदिक मानव के खगोलशास्त्रीय ज्ञान पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। वस्तुतः वे बहुत सूक्ष्म निरीक्षक थे। वैदिक अर्चकों के पास सूर्य की गति, चन्द्र का पथ और उसकी अवस्थाएँ, प्रकाशमान और भ्रममाण ग्रह और वस्तुएँ, नाक्षत्रिक आकाश, ग्रहण का होना इत्यादि के बारे में पर्याप्त ज्ञान था। उनके अन्तः प्रज्ञात्मक मन में खगोलशास्त्रीय कार्यों की गति से सम्बद्ध एक चिन्तन सरणि विकसित थी।

स मासान् विभजन् काले बहुधा पर्वसन्धिषु ।

तथैव भगवान् सोमो नक्षत्रैः सह गच्छति ॥ ३२ ॥

- महाभारतम् - वनपर्व

मास के प्रतिपादन में चन्द्र का चयन साफ तौर पर किया गया । जो आधुनिक शब्द month (जो mooneth शब्द से निकला है) से मेल खाता है। मास गणना के दो स्तम्भ थे - वे हैं अमानान्त और पूर्णिमान्त । ऋग्वेद में विविध नक्षत्रों और उनके पास से चन्द्र के गमन के बारे में कहा गया है। जिस नक्षत्र में पूर्णिमा होती थी उस नक्षत्र के नाम से वह चान्द्रमास जाना गया । अंग्रेजी में “Lunar mansions” के नाम से जाना जानेवाला नक्षत्र जाल विशेषरूप से भारतीय लगता है क्योंकि मैक्समुल्लर के अनुसार बैबिलोनीय राशिचक्र सौर है और बहुत शोध करने के बाद भी चान्द्र राशिचक्र के होने का प्रमाण नहीं मिला जबकि कीलाक्षर शिलालेखों में बहुत सारे अन्य विषय प्राप्त हुए । यदि हम राशिचक्र को बैबिलोनियों का आविष्कार मान भी लें तब भी वैदिक शास्त्रों और प्राचीन वैदिक कर्मों से परिचित व्यक्ति यह मानने को तैयार नहीं होगा कि हिन्दुओं ने अन्तरिक्ष के इस सरल विभाजन को बैबिलोनियों से लिया³ । फिर भी, यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि नक्षत्रों और चीनीय ‘सियसों’ (Hsius) के बीच में एक तरह का समझौता है, क्योंकि वे भी २८ हैं और तारामण्डलीय नक्षत्र और निर्धारक ताराओं के नाम से उनका नामकरण किया गया है । अरेबियायियों के ‘मनजिलें’ (manazils) पुनः संख्या में २८, भी नक्षत्रों से मेल खाती हैं और १९ मनजिलें तत्समान नक्षत्रों से साम्य रखती हैं । किन्तु चान्द्र राशिचक्र के रूप में चीनीय पद्धति बाद में देखी गयी (ई.पू. द्वि. शताब्दी) और उसकी दीर्घकालावधि के बाद अरेबीय मनजिलें देखीं गयीं । भारतीय नक्षत्रों की संख्या २७ या २८ है (अथर्ववेद में २८ नक्षत्रों का उल्लेख है) और प्रत्येक नक्षत्र में योगतारा को अत्यन्त प्रकाशमान बताया गया, जो तारा चन्द्र के ग्राहणिक विभाग या उसके पास उत्तर या दक्षिण के पीछे या उससे या अन्यग्रहों से जुड़कर छिपाने में समर्थ है । परिणमतः इन

योगताराओं ने वैदिक अर्चकों को अपना निरीक्षण कराने के लिये आवश्यक उपाय उपलब्ध कराया⁴ ।

वैदिक समाज में अर्चकों का अस्तित्व और प्रतिष्ठा शुभ समय में (घटिकाओं में) याज्ञिक कर्म करने पर निर्भर था । अतः उन्होंने पञ्चांग को विकसित किया जो सूर्य और चन्द्रमा दोनों को आधार बनाकर लिखा जाता था । अन्य शब्दों में कहा जाय तो उन्होंने सूर्य की गति का अनुसरण करने के लिये भी नक्षत्रों का उपयोग किया । किन्तु उन्होंने बेबिलोनी और इजिप्त के तारानिरीक्षकों की तरह सूर्य के साथ कुछ ताराओं के उदय और अस्तमान का चित्रण नहीं किया है तथापि वे सूर्य और चन्द्रमा की गतियों को अपने ही ढंग से तोलने में समर्थ थे । कालान्तर में एक अन्तर्निवेशन पद्धति व्यवहार में आ गयी और एक और ३० दिनों का (अनुक्रम में २५ या २६ दिनों का मास) मास (अधिक मास) सामान्यतः पाँच सालों के अन्तराल में सौर-चान्द्र समझनों के लिये जोड़ा गया । इस तरह पाँच वर्षों की अवधि ($5 \times 360 = 1,800$ दिन) को १,८३०, १,८२५ और १,८२६ दिनों का बनाया गया (आधुनिक मतानुसार यह १,८२६ दिन हैं)⁵

एक चान्द्रमान दिन (जो तिथि के नाम से निर्दिष्ट है) भी भारतीय खगोलशास्त्र के लिये विशिष्ट है । एक चान्द्रमास चन्द्रह तिथियों के दो पक्षों में विभाजित था। चान्द्रमास की इन तीस तिथियों से वास्तविक चान्द्रमास (जो २७ या २८ दिनों का होता है) को उजाड़ते (Over run) देखा गया । सम्भवतः इनका संयोजन केवल सूर्य और चन्द्र की संक्रान्तियों में एक तरह का तालमेल बैठाने के लिये और नक्षत्रों से गुजरते चन्द्र के पथ का पता लगाने के लिये किया होगा । किन्तु चन्द्र का प्रत्यक्ष वेग (और चान्द्र दिन) एक समान नहीं होने के कारण ये तिथियाँ कल्पनामात्र हैं ।⁶

4. A Concise History of Science in India 2.p.no.66-72

5. A Concise History of Science in India - 2. p.no.75-76

6. Taton, p.no. 137

वैदिक खगोलशास्त्र का और एक महत्वपूर्ण पक्ष है - अन्तरिक्षीय चक्र का सिद्धान्त जो अन्तरिक्षीय सृष्टितत्त्व से जुड़ा हुआ है। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार प्रजापति के एक वर्ष में १०,८०० क्षण सम्मिलित हैं। ऐसा लगता है कि यहसंख्या १२ मास प्रत्येक मास के तीस निस्तेमेरान (Mychthemeron) और प्रत्येक निस्तेमेरान के ३० क्षणों से संकलित की गयी है (अर्थात् - $१२ \times ३० \times ३० = १०,८००$)। ऋग्वेद में प्रत्येक चालीस अक्षरों के १०,८०० क्रमिक विभाजन बताये गये हैं और इससे अक्षरों की यह संख्या ४३२,००० ($१०,८०० \times ४०$) हो जाती है। इस संख्या (४३२,०००) ने बाद में भारतीय सैद्धान्तिक खगोलशास्त्र में एक प्रमुख खगोलशास्त्रीय अवधि का निर्माण किया वह एक काल महायुग के नाम से जाना गया जिसमें १२,००० दैवी वर्ष (जो ३६० सौर वर्षों अर्थात् $१२,००० \times ३६० = ४,३२०,०००$ वर्ष के तुल्य हैं) समाहित हैं। यह यहाँ बताने योग्य है कि ई० पू० पाँचवीं शताब्दी के आसपास 'हेराक्लिटस' ने १०,८०० वर्षों के एक बड़ा वर्ष (Great Year) का उल्लेख किया और बेबिलोन के खगोलशास्त्री बेरोस्सोस ने ४,३२,००० वर्षों के अन्तरिक्षीय चक्र के बारे में बताया। ये संख्यायें भारत में 'शतपथ ब्राह्मण' के लिखने के बहुत बाद प्रकट हुईं यद्यपि ग्रीक और बेबिलोन के खगोलशास्त्री इस विषय में अपेक्षित प्रमाण में भारतीय विचारों से प्रभावित नहीं थे।⁷

वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका

चतुर्थ और ग्यारहवीं शताब्दी के बीच के कालखण्ड में खगोलशास्त्रीय इतिहास का एक नया वर्ग 'सिद्धान्त' के नाम से विकसित हुआ। वराहमिहिर ने अपना ग्रन्थ 'पञ्चसिद्धान्तिका' में इन पाँच सिद्धान्तों का नाम दिया है। यथा - सौर, वसिष्ठ, पौलिस, रोमक और पैतामह। इन पाँच में से सूर्यसिद्धान्त को सर्वोत्तम और सुस्पष्ट माना गया है। यद्यपि इस ग्रन्थ

7. टाटन - पृ० सं १३७-३७

का निश्चित काल बताना कठिन है तथापि इसके आज के स्वरूप में खगोलशास्त्रीय चिन्तन के विविध संस्तर दिखायी पड़ते हैं । उनमें कुछ बहुत प्राचीन और कुछ उन के तुलना में अर्वाचीन दिखते हैं ।

सूर्यसिद्धान्त का रचनाकाल

यह सम्भव है कि कालविभाजन, महायुग का विचार, मीमांसा, नक्षत्र जाल, इत्यादि जो इस ग्रन्थ में समाहित हैं, वे प्राचीन चिन्तन से सम्बद्ध हैं और उद्बृत्त (epiyclic) सिद्धान्त और तत्सम्बद्ध विचार बाद के उपचय हो सकते हैं (किन्तु वराहमिहिर के बाद के नहीं) ।

कुछ विद्वानों के मतानुसार कलियुग के अन्तिम काल में (१३० साल बाकी रहने पर) 'मय' नामक असुर ने ज्योतिर्विद्या की प्राप्ति के लिये सूर्य भगवान् को संप्रीत करने के लिये कठिन तपस्या की उनकी तपश्चर्या से सन्तुष्ट भगवान् सूर्य स्वयम् आकर उनको अभीष्ट प्रदान करते हैं सूर्यसिद्धान्त में कहा गया है कि-

अल्पावशिष्टे तु कृते मयो नाम महासुरः ।

रहस्यं परमं पुण्यं जिज्ञासुर्ज्ञानमुत्तमम् ॥

वेदाङ्गमग्र्यमखिलं ज्योतिषां गतिकारणम् ।

आराधयन् विवस्वन्तं तपस्तेपे सुदुश्चरम् ॥

तोषितस्तपसा तेन प्रतिस्तस्मै वरार्थिने ।

ग्रहाणां चरितं प्रादात् मयाय सविता स्वयम् ॥

(सू.सि. म. अ. श्लो. २-४)

.अल-बरूनी के अनुसार सूर्यसिद्धान्त की संरचना 'लाट' नामक व्यक्ति ने की होगी जिन्होंने बाद में अन्तरिक्षीय दिव्यताओं के प्रकटीकरण को 'मय' नामक असुर के नाम दर्ज किया । कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि यह खगोलशास्त्रीय संकलन सम्भवतः बेबिलोन मूल का है । इस का तर्क वे इस असुर को एक बेबिलोनी बताकर देते हैं और एक विचार यह है कि

असुर मय 'तरुमय' (ईजिप्ट के प्टोलेमी (Ptolemy) का संस्कृत रूपान्तरण) का विदेशीय रूपान्तरण है ।

सूर्यसिद्धान्त में कालमान, ज्यापट्टिका और कोटिज्याप्रकार्य, रेखांश, समाहर्निश दिवस (विषुव के वे दो दिन जब दिन और रात समान होते हैं) संक्रान्तियाँ, ग्रहण, ग्रहगति, ग्रहणग्रस्त ग्रहों के प्रति नक्षत्रों का झुकाव, नक्षत्रों के सूर्य के साथ उदय और अस्त, सूर्य और चन्द्र के सापेक्ष गति कुछ खोलशास्त्रीय उपकरण और पंचांगीय गणना निहित हैं । इनमें से कुछ खगोलशास्त्रीय विचार ग्रीक मूलों से सम्बद्ध हैं किन्तु अधिकांश विचार ऐसे हैं जो भारतीय खगोलशास्त्र की पहचान बनते हैं।

खगोलशास्त्र के अन्य आचार्य

भारतीय खगोलशास्त्रियों में से आर्यभट्ट प्रथम ने पृथ्वी के परिभ्रमण और उद्वृत सिद्धान्त को विकसित किया । ब्रह्मगुप्त (जिन्होंने आर्यभट्ट के पृथ्वी परिभ्रमण सिद्धान्त को नहीं स्वीकारा), ने न केवल भारत में अपि तु अरेबिया में भी खगोलशास्त्री के रूप में मान्यता प्राप्त की । ईसा के बाद आठवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में क्रमशः मुहम्मद-इल इब्राहिम अल्-फजारी और याकूब इब्न तारीख ने ब्रह्मगुप्त के खगोलशास्त्रीय ग्रन्थ 'ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त' और 'खण्डखाद्यक' को अरेबिक भाषा में भाषान्तरित किया और उनका अरेबीय नाम 'सिन्ध-इन्द' और 'अरकण्ड' रखा । अल्-खोवालिज्मि ने ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त के संक्षिप्त रूपान्तरण को सिद्ध किया । मान्यता यह है कि एक खगोलशास्त्री ग्रहों के समीकरणों की पट्टिका और अन्य खगोलशास्त्रीय आंकड़ों को अपने साथ लेकर अब्बासिद-खलीफ, अल्-मंसूर के दरबार में गया । श्रीपति ने अपने ग्रन्थ 'सिद्धान्तशेखर' में चन्द्र के क्षणों को स्पष्ट किया । भास्कर द्वितीय ने ब्रह्मगुप्त का अनुसरण करते हुये ग्रहों के परिभ्रमण से सम्बद्ध विचारों को उद्वृत और उत्केन्द्रीय (eccentric) सिद्धान्तों के द्वारा और विस्तृत किया । उन्होंने रेखांशीय परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुये सूर्य की गति का भी विश्लेषण किया ।⁸

आयुर्वेद

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम् ।

मानं च तच्च यत्रोक्तम् आयुर्वेदः स उच्यते ॥

चरकसंहिता, सूत्रस्थानम् १/४१

हित और अहित आयु, सुख और दुःख आयु, आयु के लिए क्या हितकर है और क्या अहितकर, इसकी पहचान (मान) जहाँ बतलाई गई है उसे 'आयुर्वेद' कहते हैं। आयुर्वेद शब्द 'आयु' और 'वेद' शब्दों के संयोग से बता है। 'आयु' अर्थात् पुरुषायुष्य 'वेद' अर्थात् विज्ञान। अतः आयुर्वेद एक जीवनपद्धति है। इसका उद्देश्य भी केवल रोगी के रोग निवारण ही नहीं अपि तु स्वस्थ का स्वास्थ्यरक्षण भी है। धर्म परायण हमर्षियों ने धर्मार्थ ही आयुर्वेद को प्रकाशित किया, अर्थ और काम के लिए नहीं -

धर्मार्थ नार्थकामार्थम् आयुर्वेदो महर्षिभिः ।

प्रकाशितो धर्मपर रिच्छद्भिः स्थानमुत्तमम् ॥

चरकसंहिता, चिकित्सास्थानम् १/४, ५६

आयुर्वेद के प्रमुख ग्रन्थ चरकसंहिता में कहा गया है कि जो चिकित्सक धन (अर्थ) और काम के लिए नहीं अपि तु प्राणिमात्र पर दया भाव से चिकित्सा में प्रवृत्त होता है वह सर्व श्रेष्ठ और मोक्ष का अधिकारी है। प्राणियों पर दया करना उत्कृष्ट धर्म है यह मन में धारण कर जो चिकित्सा कर्म करता है उसकी सब कामनायों सिद्ध होती है तथा धर्म, अर्थ और काम तीनों की प्राप्ति होती है। वह अत्यन्त सुख का उपभोग करता है और मोक्ष को प्राप्त करता है।

ऐसे लोक हितैषी और प्राणिमात्र के कल्याण की भावना से प्रेरित आयुर्वेद की भारतीय परम्परा भी अति प्राचीन है और वैदिक काल से चली आयी है।

देवभिषक् अश्विनीकुमार

पुराणों में अश्विनी कुमार नामक दो जुड़वाँ भाईयों को देवताओं के चिकित्सक के रूप में वर्णित किया गया है ।

अश्विनौ देवभिषजौ यज्ञवाहाविति स्मृतौ ।

यज्ञस्य हि शिरच्छिन्तं पुनस्ताभ्यां समाहितम् ॥

वैद्यकीय सुभाषितम् ।

उन्होंने यज्ञ में कटे हुए अश्व का शिरपुनः जोड़ दिया था । पूषन् के दांत टूट जाने पर नये दांत लगा दिये थे । जौघ की हड्डी टूट जाने पर लोहे की शलाका लगाकर उनको जोड़ दिया और नेत्रहीन को ज्योति प्रदान की ।

आयुर्वेद की उत्पत्ति के बारे में चरकसंहिता में कहा गया है -

ब्रह्मणाहि यथा प्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः ।

जग्राह निखिलेनादावाश्विनौ तु पुनस्ततः ॥

अश्विभ्यां भगवान्छक्रः प्रतिपेदेह केवलम् ।

- चरकसंहिता सूत्रस्थानं १/४-५

दय प्रजापति ने साक्षात् ब्रह्मा जी से सर्वप्रथम आयुर्वेद का समस्त ज्ञान प्राप्त किया । उनसे अश्विनी कुमारों ने प्राप्त किया । अश्विनी कुमारों से इन्द्र ने प्राप्त किया सत्ययुग के अन्त में जब मानवों का शरीर रोगग्रस्त होने लगा तब अंगिरादि ऋषियों ने अपने सहज दया भाव के कारण, उद्धृत रोगों के निवारणोपाय चिन्तन करने के लिए हिमालय के समीप गोष्ठी की । उन्होंने निर्णय किया कि रोगोपशमन हेतु आयुर्वेद का ज्ञान आवश्यक है । और इसके निमित्त महर्षि भारद्वाज को इन्द्र के पास भेजा जाय ।

महर्षि भारद्वाजने इन्द्र के पास जाकर आयुर्वेद का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया । जिसे बाद में अन्य ऋषियों को बताया । उसके बाद 'आत्रेय पुनर्वसु' अपने छः शिष्यों को (अग्निवेश, भेल, जतुकर्ण, पराशर, हारीत,

और क्षारपाणि) शिक्षित किया। उनसभी ने अपनी प्रतिभा के अनुसार मूल विषय को अक्षुण्ण रखते हुए ग्रन्थों की रचना कर महर्षियों को सुनाया। महर्षियों ने उनके शास्त्रीयता की गुणवत्ता का परीक्षण कर प्रचलन में लाने की अनुमति प्रदान की। आगे चलकर अग्निवेश के ग्रन्थ का पुनः संस्करण महर्षि चरक ने किया जिसे 'चरकसंहिता' के नाम से जाना जाता है।¹

आयुर्वेद में दो प्रकार की परम्पराएं हैं आत्रेय परम्परा तथा धन्वन्तरिपरम्परा। आत्रेयपरम्परा प्रधानता है। में कायचिकित्सा की प्रधानता एवं धन्वन्तरि परम्परा में शल्य चिकित्सा की

काशीराज धन्वन्तरि ने भारद्वाज से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्तकर अपने सुश्रुता दि (औपधेनव, वैतरणः औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित, सुश्रुतप्रभृति) शिष्यों को दिया। जिसमें सुश्रुत द्वारा रचित सुश्रुत संहिता शल्य चिकित्सा ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध हुआ। आधुनिक चिकित्सकों ने भी सुश्रुत को शल्य चिकित्सा के जनक के रूप में मान्यता प्रदान की है। सुश्रुत संहिता में आयुर्वेद को अथर्ववेद के उपाङ्ग के रूप में वर्णित किया गया है।

इह खल्वायुर्वेदं नामोपाङ्गथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव ...।

सु.सं०, सू.स्था० - १/६

अथर्ववेद में रोगनिवारण के लिए अनेक प्रकार के भेषजों के गुणों और उनकी उपयोगिता के उल्लेख मिलते हैं। उसमें कई प्रकार के सङ्क्रामक रोगों स्त्री रोगों और शल्यचिकित्सा का भी उल्लेख मिलता है। प्रथम मण्डल में (१/१ १/५) गर्भाशय चीर कर गर्भस्थ शिशु को बाहर निकालने का भी उल्लेख है। अथर्ववेद में रोहिणी या अरून्धती नाम की एक ऐसी वनस्पति का उल्लेख है जो टूटी हड्डी को जोड़ने में सहायता करती है। ऐसे ही गुणों वाली अन्य औषधि लाक्षा या सिलाची का भी वर्णन है जो दण्डे, बां या

१. चरकसंहिता सूत्रस्थानम् १/६ - ४०

किसी भी प्रकार के चोट से हुए घाव को ठीक कर देती है । अथर्ववेद में चिकित्सा सम्बन्धी ऐसे महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक तथ्यों के होने के कारण ही आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपाङ्ग माना जाता है ।

चरक संहिता में दी गई स्वस्थ मनुष्य की परिभाषा तो आधुनिक चिकित्सा शास्त्र से भी अधिक विशद् एवं उपयुक्त है -

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थो इत्यभिधीयते ॥

- चरकसंहिता ।

जिस का त्रिदोष (वात,पित्त,कफ) सप्तधातु और मलप्रवृत्ति आदि क्रियाएँ सन्तुलित अवस्था में हो, साथ ही आत्मा, इन्द्रिय एवं मन प्रसन्न स्थिति में हो वही स्वस्थ मनुष्य कहलाता है ।

वैदिक काल के भारतीयों के औषधीय-ज्ञान के बारे में संहिताओं में उल्लेख है। इन संहिताओं में शिर, नेत्र, कान, हृदय फुफुस, अमाशय, चर्म, सन्धि इत्यादि अंगों को बाधित करनेवाले रोगों के बारे में विवरण मिलता है । आनुवंशिकता ऋतु-परिवर्तन और सूक्ष्मजीवियों के रोगों के कारण बताये गये हैं लेकिन किसी के आधार पर रोगों को वर्गीकृत करने का प्रयास नहीं हुआ । इसमें सन्देह नहीं है कि चामत्कारिक-प्रक्रियायें, जादू-मन्त्र, अभिशाप, मन्त्रोच्चारण और अन्य अनुष्ठान रोगों के चिकित्सा-क्रम थे । किन्तु अधिक प्रमाण में मूलिकाओं के द्वारा खनिज और प्रणिजन्य वस्तुओं के द्वारा चिकित्सा करना भी वे जानते थे । वैदिक ग्रन्थों में शरीर-रचना (Anatomy) और शरीर क्रिया (Physiology) से सम्बद्ध तथ्य पर्याप्त मात्रा में देखे गये, किन्तु इनका तर्कसंगत वर्गीकरण नहीं देखा गया तथापि वैदिक ग्रन्थों में मानव-शरीर और उसके रोगों के सूक्ष्म अवलोकन को देखा गया । इन तथ्यों ने आगे चलकर इस ज्ञान को 'आयुर्वेद' के रूप में संहितीकरण करने का मार्ग दिखलाया । आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपाङ्ग माना गया है ।

उत्तर वैदिक काल में आयुर्वेद का उसकी क्रमबद्ध अवधारणा के तर्कसंगत समुच्चय और क्रमबद्ध वैद्यकीय प्रयोगों के कारण बहुत सम्मानजनक स्थान है। यद्यपि आयुर्वेद की प्रसिद्ध संहिता - चरक संहिता और सुश्रुत संहिता के वर्तमान स्वरूप का निर्माण प्रायः ई.स. के प्रारम्भिक शतकों में किया गया। तब भी उनमें प्रतिपादित विचार और प्रयोगों का प्रचलन निस्सन्देह ईसा पूर्व सातवीं या छठी शताब्दी से हुआ है।

आयुर्वेद का प्रमुख उद्देश्य है - प्राणी और सस्यों की आयु-रक्षा। मनुष्य के जीवन को शरीर, इन्द्रिय, सत्व और आत्मा धारण करते हैं -

“शरीरेन्द्रिय सत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम् ।”

- चरक संहिता सूत्रस्थान १/४२

सैद्धान्तिक प्रतिपादन में आयुर्वेद ने साङ्ख्य, योग और वैशेषिक दर्शनों का आश्रय लिया है। विशेषतः द्रव्य-गुण विज्ञान, त्रिदोष-सिद्धान्त और सप्त धातु-सिद्धान्तों में वैशेषिक-दर्शन के विचार पञ्चभौतिक शरीर और पुरुष-प्रकृति से क्रमिक-उत्पत्ति में सांख्य-दर्शन के विचार दिखाई देते हैं। आयुर्वेद के अनुसार इस जगत् का निर्माण पञ्चभूतों से हुआ है, जो स्थावर (स्थिर) और जंगम (चर) वस्तुओं से युक्त है। समग्र औषध द्रव्य-समूह को पञ्चभूतों के आधार पर विभाजित किया गया। यथा - आकाशीय द्रव्य, वायवीय-द्रव्य, तैजस-द्रव्य, आप्य-द्रव्य और पार्थिव द्रव्य।

आयुर्वेद को चिकित्सा की दृष्टि से आठ अंकों में बाँटा गया है (अष्टांग आयुर्वेद)। यथा -

१. कायचिकित्सा - सामान्य चिकित्सा (General Medicine)
२. कौमारभृत्यम् - बालरोग चिकित्सा - (Paediatrics)
३. भूतविद्या - ग्रहबाधाचिकित्सा (Treatment of super natural diseases)

४. शालाक्यतन्त्रम् - ऊर्ध्वांग चिकित्सा (Treatment of diseases of ear, nose & throat - E.N.T)
५. शल्य तन्त्रम् - शल्यचिकित्सा (Surgery)
६. अंगदतन्त्रम् - विषचिकित्सा (Toxicology)
७. रसायनम् - रसायनचिकित्सा (Rejuvenation)
८. वाजीकरणम् - पुरुषत्ववर्धन (Virilification)

आयुर्वेद के दो प्रमुख ग्रन्थों में से चरक-संहिता में सामान्य चिकित्सा की प्रधानता है और सुश्रुत-संहिता में शल्य-चिकित्सा को विशेष महत्त्व दिया गया है।¹

रोग निदान और चिकित्सा का आधार 'त्रिदोष सिद्धान्त' है।

वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः ।

विकृताविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च ॥

वात, पित्त और कफ को मिलाकर त्रिदोष कहा गया है। स्वस्थ शरीर में जब ये तीनों संतुलित स्थिति में रहकर शरीर-क्रियाओं का प्रवर्तन करते हैं तब इन्हें 'त्रिधातु' (शरीर धारणात् धातुः) कहा जाता है और जब असन्तुलित होकर धातुओं के दूषण का कारण बन जाते हैं, तब इन्हें 'त्रिदोष' कहा जाता है। यद्यपि क्रियाओं के सन्तुलन में त्रिधातुओं की पाञ्चभौतिक संरचना को इस प्रकार बताया गया है। यथा -

१. आकाश + वायु = वात

२. अग्नि = पित्त

३. अप् + पृथ्वी = कफ

यह त्रिदोष समग्र शरीर में व्याप्त हैं। तथापि प्रत्येक के कुछ विशेष स्थान बताये गये हैं। क्रिया के अनुसार प्रत्येक दोष को पाँच भागों में बाँटा गया है। यथा -

१. वायुः - १. प्राण (मुख्यतः श्वासोच्छ्वास प्रवर्तक) २. उदान (मुख्यतः- वाक्प्रवर्तक) ३. व्यान (शरीर रसों का वाहक) ४. समान (अन्नपाचन विवेचन और मोचन कर्ता) ५. अपान (मलमूत्रादि का प्रावर्तक)
२. पित्तम् - १. पाचक (अन्नपाचन और सार एवं किट्टों में विभाजन और शरीरोष्णता का कर्ता), २. रञ्जक अन्न रस (Chyle) का रञ्जन (रक्तवर्णदान) कर रक्त के रूप में परिणत करने वाला, ३. साधक (बुद्धि और मेधा-वर्धक), ४. आलोचक (दृष्टि में सहायक), ५. भ्राजक (वर्णप्रसाधनकर्ता)
३. कफः - १. अवलम्बक (शक्ति और ऊर्जा प्रदाता), २. क्लेदक (अन्नक्लेदनकर्ता), ३. बोधक (रुचि का बोध करानेवाला), ४. तर्पक (नेत्र और अन्य ज्ञानेन्द्रियों का नियन्त्रक), ५. श्लेषक (सन्धि-स्नेहन कर्ता)

ऊपर बतायी गयी सैद्धान्तिक-सरणि भारतीय-चिकित्सा-पद्धति की पहचान है। आयुर्वेद के अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों में रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव से सम्बद्ध सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं, क्योंकि आयुर्वेद के अनुसार प्रत्येक द्रव्य में (चाहे वह प्राणिजन्य हो या सस्यजन्य या खनिज सब में) ये पाँच तत्त्व निहित हैं।

रस छह हैं यथा - मधुर, आम्ल, लवण, तिक्त, कटु और कषाय। इन रसों के गुण कर्म और प्रभाव के बारे में विस्तृत विवरण आयुर्वेदीय ग्रन्थों में दिया गया है, क्योंकि चिकित्सा के लिये इनका ज्ञान अत्यावश्यक है।

गुण शब्द से शारीरिक गुण बताये गये हैं, ये बीस हैं - गुरु, लघु, मन्द, तीक्ष्ण, गीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, श्लक्ष्ण, खर, सान्द्र, द्रव, मृदु, कठिन, स्थिर, सर, सूक्ष्म, स्थूल, विशद और पिच्छिल इन गुणों के आधार पर शरीर के वर्धन और रक्षण करने के लिये द्रव्यों का चयन किया जाता था।

वीर्य सामान्यतः दो प्रकार के हैं - उष्ण और शीत । ये वीर्य प्रसन्नता, बल, तृष्णा, चक्कर इत्यादि के कारण हैं ।

विपाक को अन्न की जीव रसायनिक विघटन-प्रक्रिया मान सकते हैं । प्रभाव से शरीर के ऊपर कुल मिलकर प्रभाव उद्दिष्ट है ।

अन्न का पाचन और शरीर के साथ मिलने की प्रक्रिया का सैद्धान्तिक आधार पुनः पाञ्चभौतिक सिद्धान्त ही है । अन्न को रस के रूप में परिणत करने में कारणीभूत तत्त्व जठराग्नि है । इस जठराग्नि शब्द का व्यापक अर्थ है । अग्नि शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह वस्तुतः अन्न का पचन और विपचन कर शरीर के द्वारा उसके विलयन का कारण बनता है । अन्नरस जो अंग्रेजी में खैल (Chyle) कहा जाता है, आगे चलकर रक्त, मांस, मेदस, अस्थि, मज्जा और शुक्रों में क्रमशः परिणत होता है । अन्न रस और ऊपर बताये गये अन्य-छह को मिलाकर 'सप्त धातु' कहते हैं जो शरीर को धारण करते हैं । प्रत्येक परिणमन घट्ट में परिणमन के कारणीभूत तत्त्व को धात्वग्नि कहा गया है । प्रत्येक धातु तीन भागों में परितणत होता है - स्थूल, सूक्ष्म और किट्ट (मल) ।

आयुर्वेद के अनुसार रस का स्थान हृदय है और वहाँ २४ धमनियों (स्थूल नलिकाकार वाले) के द्वारा सब ओर आगे निकलकर सिरा (कृशनलिकाकार वाले जो स्पन्दन नहीं करते हैं) और त्त्रोतसों (सूक्ष्म नलिकायें जो कृशधमनी और सिराओं के बीच में रहते हैं) के द्वारा शरीर के विविध-भागों तक ले जाये जाते जहाँ ।

आयुर्वेद की चिकित्सा दो प्रकार की है - शोधन (पञ्चक द्वार) और शमन (शमन औषधों के द्वारा) उनका दूषित द्वारा दोषों को फिर से सन्तुलित अवस्था में लाना है । सभी तरह के औषध द्रव्य, चिकित्सा प्रक्रियाओं में पञ्च कर्मों (वमन, विरेचन, नस्य, बस्ति और रक्तमोक्षण) के द्वारा शरीर में सञ्चित दोषों का शोधन, आभ्यन्तर शमनौषध सेवन, बाह्य-

लेपन या अन्य उपचार, नेत्र-बिन्दु और अञ्जन का उपयोग; गण्डूष; कर्ण, नासिका और कण्ठ का धूमन; त्वचा के लिये तैल मरहम लेप्यों का उपयोग; शरीर के द्वारों में वर्ति, पिचु, कपास की फुरहरी (Swab) इत्यादि का उपयोग; विविध तरह के स्नान; स्वेदन; धूमन के द्वारा रोगाणु-प्रतिरोध (antiseptis) शल्य-क्रिया व्रण-बन्धन के लिये औषधयुक्त तीक्ष्ण लवणीय द्रव्य (Hypertonic salt solution) का उपयोग क्षत और खरोंच से रक्त-स्राव के रोध के लिये कषायों का उपयोग प्रमुख हैं ।²

आयुर्वेद मे विशाल द्रव्य-भण्डार है । चरक-संहिता में ३४१ सस्यजन्य द्रव्य १७७ प्राणिजन्य द्रव्य और ६४ खनिज-द्रव्यों का उल्लेख है और सुश्रुत-संहिता में ३८५ सस्यजन्य ५७ प्राणिजन्य, ६४ खनिज-द्रव्यों का विवरण है ।³ सामान्यतः आन्तरिक और बाह्य दोनों तरह की चिकित्सा में सस्यजन्य द्रव्यों का प्राशस्त्य था क्योंकि यह मान्यता थी कि सस्यों में पञ्चभूत निहित हैं और धातु और खनिजों में केवल पृथ्वीभूत निहित है । साथ-साथ परिसर में औषध-गुणों से परिपूर्ण विविध द्रव्यों की प्राप्ति भी ऐसे प्राशस्त्य का कारण हो सकता है । एक आयुर्वेद चिकित्सक को आत्मनियन्त्रण, धैर्य, करुणा, शारीरिक और मानसिक परिशुद्धता इत्यादि नैतिक गुणों के पालन के साथ शास्त्र का सम्यक् ज्ञान रखना पड़ता था और जागरूकता से चुने गये कच्चे द्रव्यों के द्वारा औषधों का निर्माण का स्वयं अपने ही देख-रेख में करवाना आवश्यक था ।⁴

सभी जीवों तक व्यापक चिकित्साशास्त्र होने के कारण आयुर्वेद में प्राणि और सस्यों के रोगों की भी चिकित्सा बतायी गयी है । प्राणियों की चिकित्सा को बतानेवाले अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं जैसे गोजातीय के प्राणियों के चिकित्सा क्षेत्र में "गवायुर्वेद" अश्वचिकित्सा में 'अश्वायुर्वेद' और

2. A Concise History of Science in India - 4, PP.247-50

3. A Concise History of Science in India - 4, PP.251

4. A Concise History of Science in India - 4, PP.245-46

हस्तिचिकित्सा 'हस्तियायुर्वेद' था सस्य चिकित्साक्षेत्र में 'वृक्षायुर्वेद'⁵ इन मुख्य ग्रन्थों के अलावा कुछ पुराण और कुछ निघण्टुओं में भी इस तरह की चिकित्सा प्रक्रियाओं का वर्णन है ।

ईसा की चतुर्थ शताब्दी से ११वीं शताब्दी के बीच के काल में भी आयुर्वेद ने अपनी उत्कृष्ट परम्परा को बनाये रखा और नालन्दा, विक्रमशिला बलभी विश्वविद्यालयों के सामान्य पाठ्यक्रम में एक प्रमुख विषय के रूप में आयुर्वेद की पढ़ाई होती थी । बौद्ध विद्वानों ने चिकित्सा क्षेत्र को अधिक महत्त्व दिया जिसके द्वारा वे अपने धार्मिक और सामाजिक दायित्व का निर्वहण रुग्ण एवं पीड़ितों की सेवा के रूप में कर सके । इस काल के प्रसिद्ध आयुर्वेदीय लेखक 'वाग्भट्ट' और 'नागार्जुन' बौद्ध मतानुयायी थे । वाग्भट्ट के 'अष्टांग हृदय' में अधिक विस्तार और संक्षेप के बिना आयुर्वेदीय-ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है । इस ग्रन्थ की व्याख्या मुख्य रूप से अरुणदत्त, चन्द्रानन, हेमाद्रि और इन्दु ने लिखी । माधव का 'रुग्निश्चय' अथवा 'माधवनिदान' (चरक-सुश्रुत और अष्टांग-हृदय में वर्णित विषयों का संकलन) भी एक ऐसी बहुमूल्य चिकित्सीय मार्गदर्शिका है, जिसमें रोग-निदान के बारे में बताया गया है । बाद में विजय रक्षित (मधुकोष) और वाचस्पति (आतंकदर्पण) ने इसकी व्याख्या लिखी । वृन्द और चक्रपाणि ने क्रमशः 'सिद्धयोग' और 'चक्रसंग्रह' के नाम से दो बहुमूल्य चिकित्सीय-ग्रन्थों की रचना की ।⁶

ईसा की सातवीं शताब्दी में जब अरबों ने मलाबार समुद्र-तट पर अपने वाणिज्य केन्द्रों को स्थापित किया तब उन्होंने भारतीय औषध-द्रव्यों के गूढ़ ज्ञान को प्राप्त किया । बाद में जब उन्होंने सिन्ध के ऊपर विजय पाई तब गणनीय प्रमाण में विज्ञान के विविध क्षेत्रों में निष्णात विद्वानों का आदान-प्रदान हुआ ।

5. A Concise History of Science in India - 4, PP.254-56

6. A Concise History of Science in India, 4, PP.286-27

अब्बासीद खलीफों ने भारतीय चिकित्सा ग्रन्थों के भाषान्तरण के लिये अधिक प्रोत्साहन दिया । एक उत्प्रवासी भारतीय-विद्वान् ने सुसुद, कीडुल-समुरल-हिन्द ईके नाम से सुश्रुत-संहिता को भाषान्तरित किया । अली इब्न जैन ने चरक-संहिता का भाषान्तरण 'सरग' का ग्रन्थ के नाम से किया । अष्टांग हृदय और माधवनिदान का भी अरेबिक भाषा में क्रमशः 'अष्टनकर' और 'बदन' के नाम से भाषान्तरण हुआ ।⁷ यह जानकारी प्राप्त हुई है कि खलीफा अल मंसूर के वजीर खलीद बलख के बौद्ध-मंदिर के प्रमुख अर्चक का पुत्र था । प्रमुख अर्चक को 'वरमार्क' कहा जाता था । जब खलीफों ने बलखों के ऊपर विजय पाई तब खलीद की माँ को भी बन्दी बनाया गया और उसका धर्मान्तरण कर मुसलमान बनाया गया और वह 'बरमकीवंश' की जननी बनी । इस बरमकीवंश के राजा अधिक प्रमाण में भारतीय-चिकित्सापद्धति, अंकगणित और खगोलशास्त्र को अरेबिक भाषा में भाषान्तर करने में कारणीभूत हुये । उनके ही निर्देशन में भारतीय वैज्ञानिक ग्रन्थ जैसे वैद्यकीय द्रव्यगुण-विज्ञान, विषविज्ञान इत्यादि का भी अनुवाद हुआ । बाद में रेजसू के अल-राजी (ई.स. ८८५-९२५) ने अपने सुबोध ग्रन्थ जो मध्यकालीन यूरोप में 'लाईबर कान्टिनेन्स' (किताब-अल-हबी) नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसमें भारतीय वैद्यकीय ज्ञान को समाविष्ट किया गया । 'मोसस फराची' (ई. स. १३ वीं शताब्दी) ने इसका लैटिन भाषा में भाषान्तरण किया और यह ग्रन्थ मध्य-युग का प्रमाणिक वैद्यकीय ग्रन्थ बना ।

शल्य चिकित्सा

सुश्रुत ने आठ तरह के शस्त्रकर्म (शल्यक्रिया) बताये हैं । यथा - छेदन, मेदन, लेखन, वेधन, एषण, आहरण, वित्त्वावण और सीवन । शल्यक्रिया में प्रयुक्त होनेवाले उपकरणों में १०१ तरह के 'यन्त्र' और २०

तरह के 'शस्त्र' बताये गये हैं । उदाहरणार्थ - स्वस्तिक-यन्त्र (Cross-Shaped), संदंश-यन्त्र (Forceps) तालयन्त्र (Scoops) नाडीयन्त्र (Tubular) व्रणबस्तियन्त्र (Syringe) योन्धेक्षणयन्त्र (Vaginal speculum) वृद्धिपत्र (Scalpel & Bistoury) नखशस्त्र (Nail Parer) कुशपत्र (Paget's Knife) कर्तरी (Scissors) कुठारिका (Chisle) व्रीहिमुखम् (Trocar) एषणी (Probe) बडिशम (Hook) करपत्र (Saw) सूची (needle) इत्यादि। इन में बहुत से उपकरणों का आकार विविध पशुपक्षियों के मुख या चोंच के समान था और उसका नामकरण भी उसी के अनुसार किया गया। जैसे स्वस्तिकयन्त्रों में सिंहमुखम्, ऋक्षमुखम्, कंकमुखम्, काकमुखम् इत्यादि। उन उपकरणों के इस्पात या पञ्चलोह के द्वारा निर्माण विधि, आकार, हत्था इत्यादि का भी विवरण है । 'मोतियाबिन्द' निवारण एक स्थापित शल्यचिकित्सा क्रम था जिसका ज्ञान प्राचीन ग्रीक या ईजिप्ट के शल्यचिकित्सकों के पास भी नहीं था । सुश्रुतसंहिता में कपालभेद (Craniotomy) और भगन्दरीय शल्यक्रियाओं के विस्तृत विवरण शल्यक्रिया के पश्चात्-कर्मों के साथ दिये गये हैं । किस रोग में किस शिरा का वेधन करना चाहिए, यह भारतीय शल्यचिकित्सक जानते थे और प्रायः इसके लिये वे दाहकर्म (तप्त लोह के द्वारा) का आश्रय लेते थे । शल्यक्रियात्मक कटव (Surgical incision) में अपेक्षित प्रवीणता प्राप्त करने के लिए विशेष प्रशिक्षण दिया जाता था, जिसमें फलों पर शल्यक्रियात्मक कटाव करना हिरण, बकरी और भेड़ के रोमसहित चर्म पर शल्यक्रियात्मक निशाना बनाना; फुलाया हुआ झोला का वेदन करना, भृतपशुओं की रक्तवलिकाएँ (शिराओं) या कमलवृन्त को छेदना, मांस पर दाहकर्मा करना मोटे कपड़ों पर सिलाई करना इत्यादि-प्रमुख हैं । आहरण (Extraction) अभ्यास के लिये कटहल बीज की मज्जा और तत्समान मज्जाएँ और भृतपशुओं के दाँतों का उपयोग होता था । सिलाई के लिये उपयुज्यमान धागे केश (Hair), सनई (Julte) और वल्कल के रेशों के द्वारा बनाये जाते थे ।

डा० गुथ्री कहते हैं - "सबसे महत्वपूर्ण यह है कि शल्यचिकित्सा का क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ भारतीय अद्वितीय थे । सुश्रुत ने शताधिक उपकरणों का विवरण दिया । यह रोग निवारण के क्षेत्र में उनका बृहत्तम योगदान था और यह कार्य निर्भीक एवं अलग पहचान का था । यद्यपि यह प्रमाणित नहीं है फिर भी हो सकता है कि इनमें कुछ का उद्भव ग्रीक में हुआ हो किन्तु वास्तव में कुछ लोगों का मानना है कि ग्रीकों ने अपना अधिकांश ज्ञान हिन्दुओं से पाया न्यू बर्गर के अनुसार प्राचीन भारतीय शल्यचिकित्सा की उत्कृष्ट क्रियाओं में 'लेपरोटोमी' (Laperotomy) लिथोटोमी (Lithotomy) और प्लास्टिक सर्जरी (Plastic surgery) प्रमुख हैं ।

सुश्रुतसंहिता को पुनर्नासांगरचना (Rhenoplasty) का विवरण देनेवाला प्रथम ग्रन्थ माना गया यत्न उस समय का एक साहसिक कार्य यह था कि चीटी के द्वारा घाव के ओठों को कटवाकर चीटी के रुण्ड को काटकर मुण्ड को वहीं छोड़कर घाव को जोड़ना । अरबों ने बाद में इस पद्धति का अनुसरण किया ।

भारतीय चिकित्सा पद्धति एवं शल्यक्रिया का प्रभाव ग्रीक और अरेबियायियों पर अधिक पड़ा । 'हिप्पोक्रेटस' के ग्रन्थ में श्वासप्रकरण में श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया के साथ जो विवरण दिया गया है वह वायु और प्राण के बारे में विद्यमान भारतीय ज्ञान के समान ही था । प्लेटो अपने ग्रन्थ 'टिमियोस' (Timaeus) में त्रिदोषसिद्धान्त के समान ही विकृति विज्ञान का विश्लेषण किया है । यह निश्चय ही आश्चर्यजनक है । फिलियोजट् (Fillioget) कहता है - भारतीय चिकित्सकों ने हिप्पोक्रेटस् और टिमियोस को निश्चय ही प्रभावित किया । यद्यपि प्लेटों ने अपने ज्ञान के स्रोत का उल्लेख नहीं किया तथापि उनके सिद्धान्त ग्रीकों के समकालिक विचारों से अधिक भारतीय विचारों से मिलता जुलता है । प्लेटो के काल में ग्रीकचिकित्सा पद्धति के ऊपर भारतीय सिद्धान्तों का पुष्टीकरण उनके द्वारा भारतीय औषधि जैसे -

स्त्रीरोगों में मरीच के उपयोग का उल्लेख हिप्पोक्रेट ग्रन्थ में होने से होता है। 'मेगास्तनीज' ने हस्तीरोग और उसकी चिकित्सा के बारे में लिखा है जो 'हस्त्यायुर्वेद' से लिया गया है। रोमन सेल्सियस (ई० स० प्रथम शतक) ने अपने चिकित्सा ग्रन्थ में पथरी की शल्यक्रिया का विस्तृत विवरण दिया है जो भारत में उससे भी बहुत पूर्व की जाती थी। परगामम के गेलन (Gales). ई. स. १३१-१२० जिन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग रोम में बिताया, तथा नेत्रांजन और मलहम के लिये उपयुज्यमान वस्तुओं के स्रोत के रूप में भारतीय ग्रन्थों को उद्धृत किया। यह सर्वविदित है कि भारतीय मूलिकाओं की रोम में अत्यधिक मांग थी।

रसविद्या (Alchemy) और रसशास्त्र (Iatro chemistry)

प्रायः छठी या सातवीं शताब्दी के काल में जनतान्त्रिक विश्वास और प्रक्रियाओं ने समाज के विविध स्तरों पर अपना वर्चस्व जमाना प्रारम्भ किया। उसके बाद रासायनिक द्रव्यों का अवगमन करने और एक अलग प्रायोगिक तकनीक के द्वारा संस्करण करने की पद्धति भारत में विकसित हुई, जिसका प्रचलन गूढ़ रूप से हुआ और नामकरण रसविद्या के नाम से हुआ। इसमें रस या पारद को प्रमुख द्रव्य के रूप में लिया गया जिसका दैवी मूल भगवान् शिव का वीर्य माना गया। यह नया अभिगम अष्टसिद्धियों (अणिमा आदि) की प्राप्ति के लिए क्रियमाण तान्त्रिक साधना में सहायता करनेवाले चिन्तन और अभ्यास के जटिल तन्त्र के रूप में विकसित हुआ। भारतीय समाज में गभीरता से व्याप्त, जाति, मत, पन्थ, लिंग इत्यादि भेदभावनाओं को दूर करने के मानवीय प्रयासों का अधिष्ठान भी बन गया। इन तन्त्रों ने भेदभावनादि कुरीतियों को रहस्यात्मक तरीके से मिटाने के लिये विचार और प्रक्रियाओं को प्रदान किया। समाज ने यह निर्विरोध मान लिया था कि इन प्रक्रियाओं के द्वारा शारीरिक चिर यौवन और मानसिक

दिव्यानुभूति को प्राप्त कर सकते हैं । पारद के अलावा अभ्रका, गन्धक आदि अन्य रासायनिक द्रव्यों के द्वारा निर्मित बहुत सारे पारदीय सम्पाक (Preparation) और संयोजनों (Compositions) को जीवन-अमृत के निर्माण में अत्यन्त शक्तिशाली माना गया । गभीर अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है कि यह विशिष्ट रसविद्यात्मक चिन्तन सरणि का उद्भवस्थान अन्य सांस्कृतिक परिवेश होगा । प्रायः चीनी और अरेबीय परिवेश जिन देशों के साथ इस काल में भारत का आन्तरंगिक सम्बन्ध था ।

भारत में पारद आश्रित रसविद्या अपने पूर्ण विकसित स्वरूप में स्त्री-पुरुष प्रतीकवाद से जुड़ी हुई दिखती है (पारद और गन्धक को क्रमशः शिवतत्त्व और पार्वतीतत्त्व माना गया) और इन दोनों के हिंगुल के साथ जुड़ने पर जो द्रव्य उत्पन्न होता है (रस सिन्दूर) उसको आयुष्यवर्धक सार द्रव्य के रूप में माना गया ।

यह असम्भव नहीं हो सकता है कि भारतीय रसविद्या ने अपने मूलभूत विचार को चीन के दक्षिणभाग से प्राप्त किया जहाँ यिन (स्त्री) और यांग (पुरुष) पर आधारित एक इसी तरह का चिन्तन इस काल में प्रचलन में था जिसमें रससिन्दूर का भी गुणगान किया गया है । फिर भी, भारतीय रसवादियों ने इस तत्त्व का संयोजन जैसे किया है उससे दो तीन शतकों में ही यह रसविद्यात्मक ज्ञान भारतीयों का पहचान बन गया । यद्यपि भारतीय रसवादियों का प्रमुख उद्देश्य जीवनामृत को पाना ही था तथापि रसविद्या के युगल पहलू - 'जीवनामृत' का निर्माण और मूल धातुओं का स्वर्ण और रजत के रूप में रूपान्तरण करने की विधियाँ गणनीय प्रवीणता के साथ विकसित हुई ।

क्रमशः रसविद्या एक क्रमबद्ध ज्ञान के रूप में विकसित हुई और रसविद्यात्मक ज्ञान के विविध पहलुओं को दर्शाने वाले बहुत सारे ग्रन्थ दसवीं शताब्दी के बाद विरचित हुए । ये ग्रन्थ रसशास्त्र ग्रन्थ के नाम से

जाने गये और इनमें महारस, उपरस, नवरत्न, धातु, विष इत्यादि नामों से विविध रासायनिक द्रव्यों और उनके शुद्धीकरण के लिये उपयुज्यमान औषधि और उपकरणों का विवरण मिलता है। इन ग्रन्थों के विस्तृत अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि 'रसवादी' धातु और खनिजों के हानिकारक गुणों को दूर कर आन्तरिक उपयोग के लिये पूर्णतः योग्य बनाने के लिये विविध शुद्धीकरण प्रक्रियाओं को करते थे। उनमें पारद के अष्टादश संस्कार विशेषतः उल्लेखयोग्य हैं। इन प्रक्रियाओं में औषधगुणयुक्त वनस्पतियों के रस और कषायों के साथ पारद का घर्षण करना और गन्धक, अभ्रक और कुछ क्षार पदार्थों के साथ पारद का संयोजन प्रमुख हैं। रसवादी यह मानते हैं कि क्रमशः सत्रह शुद्धीकरण प्रक्रियाओं से गुजरने के बाद पारद, रूपान्तरण (स्वर्ण या रजत के रूप में) की सभी शक्तियों का परीक्षण करना चाहिये। यदि परीक्षण सच निकला तो उसको अष्टारहवीं शुद्धीकरण प्रक्रिया में लगाना चाहिये जिसके द्वारा पारद अपनी जीर्णीकरण योग्यता और शरीर का कायाकल्प करने की क्षमता को प्राप्त कर लेता है। यह परिज्ञान भारतीय रसविद्या के निजी विशेषता के रूप में प्रतीत होता है।

भारतीय रसविद्यात्मक प्रचलनों की और एक निजी विशेषता है 'मुष्पु' नामक प्रमुख द्रव्य जिसका तमिळभाषियों के रसविद्यात्मक ग्रन्थों में प्रमुख स्थान है। इस 'मुष्पु' को तीन प्राकृतिक लवणों (पूनीरु, कल्लुप्पु, और अण्डक्कल) का संयोग माना गया। यह चार विध है - वडमुप्पु, वैद्यमुप्पु, योगमुप्पु और ज्ञानमुप्पु। वडमुप्पु का उपयोग रसविद्या में, वैद्यमुप्पु का उपयोग 'सिद्ध' चिकित्सा पद्धति में होता था और योगमुप्पु और ज्ञानमुप्पु के प्रभाव धार्मिक प्रक्रियाओं में देखने को मिलते हैं। यह प्रतीत होता है कि तमिळ 'मुप्पु' यूरोपीय 'दार्शनिक की शिला' (Philosopher's stone) के समान है क्योंकि मुप्पु के साथ पारदीय संयोजनों को मिलाने पर वह मूल धातुओं को स्वर्ण के रूप में परिवर्तित करने की और मानव शरीर का

कायाकल्प करने की अद्भुत शक्ति को प्राप्त कर सकता है । अपेक्षित प्रमाण की शक्ति वाले मुप्पु के निर्माण करने की विविध पद्धतियाँ देखी गयीं और सिद्धविद्या और रसविद्या के ज्ञाताओं ने अत्यन्त गूढ़ विषय के रूप में इनका संरक्षण किया ।

तमिल भाषा में रसविद्या से सम्बद्ध बहुत ग्रन्थ हैं और रसविद्यात्मक विचारों के प्रसारण के इतिहास के अवलोकन की दृष्टि से इन ग्रन्थों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना महत्त्वपूर्ण हो सकता है क्योंकि प्रसिद्ध तमिल रसवादियों में एक रामदेवर अपने एक ग्रन्थ^अ में बताता है कि उन्होंने अरबदेश में जाकर अपना नाम याकूब बताया और मुप्पु लवण से आधारित रसविद्या को सिखाया (प्रायः ईसा के ग्यारहवीं या बारहवीं शताब्दी में) । रोचक विषय यह है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में 'पारासेल्सस्' (Paracelsus) नामक स्विसदेशीय चिकित्सक ने पारद और गन्धक के साथ लवण को भी तृतीय मूलभूत तत्त्व के रूप में परिचय कराकर और रसविद्या को मानव के लिये लाभदायक औषधीय संयोजनों के रूप में प्राकृतिक खनिजों की रूपान्तरण के श्रेष्ठकार्य में निरत बता कर रसविद्या को एक नयी दिशा और अर्थ दिया । यह सर्वविदित है कि इस तरह के विचार रसशास्त्र के ग्रन्थों में इससे पूर्व ही निहित देखे गये हैं ।

विशेषतः तमिल रसविद्या में पारद और गन्धक के साथ लवण को भी प्रमुख स्थान दिया गया । प्रायः सुदीर्घ अध्ययन करने पर भारत और पश्चिम देशों के बीच रसविद्यात्मक विचारों के संक्रमण की ऐतिहासिक कड़ी को प्राप्त कर सकते हैं ।

वेद और विज्ञान

“आयुर्विज्ञान

“वेदात् सर्वं प्रसिद्धयति” अर्थात् वेद सेही सब विकसित हुआ है । या ‘वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्’ अर्थात् वेद में ही सम्पूर्ण ज्ञान प्रतिष्ठित है । वह ज्ञान चाहे यज्ञ-विज्ञान हो, ज्योतिष-विज्ञान हो, सृष्टि-विज्ञान हो, प्राण-विज्ञान हो, मनोविज्ञान हो, वाक्-विज्ञान हो, भौतिकविज्ञान हो, रसायन-विज्ञान हो, जीव-विज्ञान हो, वनस्पति-विज्ञान हो, गणित हो या वास्तु विज्ञान हो, कृषिविज्ञान हो और चाहे वह आयुर्विज्ञान ही हो इस सभी का मूलाधार वेद है ।

वेद में जहाँ एक ओर स्वर्ग-प्राप्ति के उपाय ‘ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत’ कहे गये हैं वहीं पर आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखत्रय को दूर करने के उपाय भी कहे गये हैं । स्वस्थ शरीर से सम्पूर्ण कार्यकलाप सम्भव हैं यथा ‘शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्’ । हमारे ऋषियों ने सौ वर्ष पर्यन्त आयु की कामना की है यथा - कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समां । एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे” ।

सृष्टिनिर्माता ने आयु के संरक्षण, संवर्धन हेतु इस विज्ञान को उत्पन्न किया । इस आयुर्विज्ञान का आदिस्त्रोत वेद ही है ।

आयुर्विज्ञान इस शब्द में आयु का अर्थ है आयु जीवितमुच्यते^१ अर्थात् जीवित या जीवन ही आयु कहा जाता है । आयु जीवन ही है । मानवे जीवन सार्थक स्वस्थ एवं दीर्घजीवन के परिणाम स्वरूप ही होता है । हमारे ऋषियों, मनीषियों ने इसी दृष्टिकोण से अपनी आयु के प्रति सजग रहने के लिए मनुष्यों को आयुर्विज्ञान या आयुर्वेद की शिक्षा प्रदान करने के साथ-

१. यजुर्वेद - ४०.२, ईशावास्योपनिषद् - २

२. काश्यप संहिता सूत्र - १.१०

साथ पलकाप्य (गजायुर्वेद), शालिहोत्र (अश्वचिकित्सा) आदि की रचना कारके गज, अश्व, पशु-पक्षी आदि सभी का उपकार किया^१। इससे यह प्रतीत होता है कि आयुर्वेद अनेक शाखाओं वाले चिकित्सा विज्ञान को प्रकट करता हुआ केवल मनुष्यों की ही नहीं अपितु पशु-पक्षी और वृक्ष आदि की भी चिकित्सा से सम्बन्धित है।^२

या ओषधी पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ।

मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ।^३ अर्थात् जो ओषधियां देवों के लिए पूर्व समय में तीन युगों में उत्पन्न हुई हैं, वह सब पिङ्गलवर्ण ओषधियां एक सौ सात स्थानों में निश्चित रूप से विद्यमान हैं, ऐसा में जानता हूँ ।

वैदिक संहिताओं में उपलब्ध उपर्युक्त मन्त्र के आधार पर इस का अनुमान होता है कि ओषधियां सबसे पहले उत्पन्न हो चुकी थी । मोहनजोदड़ो के खनन में एककाले रंग बड़ा सा गोला प्राप्त हुआ, जिसका अन्वेषण और परीयण करके डॉ॰ सनाउल्ला नामक रसायनशास्त्र के आचार्य और डॉ॰ हमीद ने यह बताया कि 'यह शिलाजीत है जो कि पर्वतीय प्रदेश से वहाँ आया है, मूत्ररोगादि में विशेष रूप से यह ओषधि के रूप में प्रयोग किया जाता है ।'^४

ऋग्वेद में इसका उल्लेख कई रूपों में सर्वाधिक स्थलों पर हुआ है यथा अग्नि वायु आदित्यरश्मि, आपः आदि प्राकृतिक तत्त्वों का स्वास्थ्य के

१. शालिहोत्रः सुश्रुताय हायायुर्वेदमुक्तवान्

२. हेमराजशर्मा - काश्यप संहिता उपोद्गात् पृ० ४

३. ऋग्वेद - १०. १७. १ वाजसने यी संहिता - १२. ७५, तैत्तिरीय सं - ४. २. ६१.

४. हेमराजशर्मा - काश्यप संहिता के उपोद्घात की पाद टिप्पणिसे उद्धृत पृ० ११३

लिए हितकारी रूप में अश्विनी कुमारों के चिकित्सकीय आश्चर्य पूर्ण विवरण के रूप में, यक्ष्मा, हलीभक आदि विविध रोगों के वर्णन के रूप में, रुद्र का वैद्य के रूप में, कृमियों का वर्णन आदि रूप में ।

ऋग्वेद का प्रसिद्ध औषधि सूक्त (१०.९७) तो आयुर्विज्ञान आथवा आयुर्वेद को इसका उपवेद बतलाने की अवधारणा करता है । इस के अतिरिक्त अनेकानेक ऐसे उल्लेख हैं जिसमें आयुर्विज्ञान का वर्णन दृष्टिगत होता है । यथा - रसायन प्रयोग से च्यवनऋषि को पुनर्यौवन प्राप्त करना^१, दासों द्वारा नीचे फेंक दिये गये दीर्घतमस् ऋषि का शल्यचिकित्सा के माध्यम से सिर, हृदय का पुनः सन्धान कर दिया जाना^२, खेल नरेश की पत्नी विश्पला के करे हुए पैरो के स्थान पर लौह निर्मित पैर को जोड़ देना^३, अश्विनी कुमारों के द्वारा दधीचि या दध्यङ्क् ऋषि के सिर को अलग करके उसकी जगह अश्व का सिर लगा देना^४, श्यावाश्व के विच्छिन्न अङ्गों को जोड़ कर पुनः जीवित कर देना^५, ऋजाश्व को दृष्टिदान^६, श्रवणशक्ति हीन (पालकाप्योऽङ्गराजाय गजायुर्वेदमब्रवीत् । अग्निपुराण अश्वयाय २९२.श्लोक सं.४४.) नार्षद को श्रोत्रदान, पङ्हु और नेत्रहीन परावृक् ऋषि को दृष्टि और गति प्रदान करना, असक्त पतिवाली वधिमती को अपने पति से ही हिरव्यहस्त नामक पुत्र की प्राप्ति, पिता के घर में वृद्ध होने वाली घोषा को (वृद्धत्व से मुक्त कर) पति प्रदान करना, श्याव को कुष्ठरोगमुक्त कर पत्नी प्राप्तियोग्य कर देना,^७ इन्द्र द्वारा अपाला के पिता को जेपन से मुक्त करना

१. ऋग्वेद - १.११२.८, ५. ऋग्वेद - १.११६.१३,

(२) ऋग्वेद - (३) ऋग्वेद - १.११६.८

(४) ऋग्वेद - ८.९१.६-७, (५) ऋग्वेद - १.१११.१-१६

(६) ऋग्वेद - १.५०.११-१३ (७) ऋग्वेद - १.२३.१९;

और अपाला को चर्मरोग से मुक्त करना,^१ आदि आख्यानो के अतिरिक्त अनेक प्रकार के विषयुक्त सर्प और विष को नष्ट करने वाली ९९ ओषधियों का वर्णन है ।^२

सूर्य चिकित्सा से हृदय रोग और हरिमा (पीलिया) रोग का निवारण करना,^३ जल का औषधि स्वरूप होना,^४ यक्ष्मा और राजथथमा के निवारण हेतु ओषधियों का उल्लेख आदि ।^५

ऋग्वेद में रूद्र^६ को प्रथम देव भिषक् स्वीकार किया गया है । ऋग्वेद के विविध स्थलों पर अश्विनी कुमारों के द्वारा शल्य काय, रसायन आदि अष्टाङ्ग आयुर्वेद से रोग-मुक्त करने का उल्लेख प्राप्त है ।

यजुर्वेद में भी कतिपय रोग और उनके उपचार के विषय में उल्लेख है।^७

अथर्व वेद में आयुर्विज्ञान का उल्लेख स्वतन्त्र रूप से प्राप्त होता है । अथर्व वेद के नामों में एक भैषज्य वेद में भी प्राप्त होता है ।^८ शरीर को जरा, व्याधि से मुक्त कर स्वस्थ रखने के लिए चिकित्सा पद्धति को चार भाग में विभक्त किया गया है (१) आथर्वणी, (२) आङ्गिरसी, (३) दैवी, (४) मानुषी,^९

आयुर्विज्ञान का सम्बन्ध चारों वेदों के साथ है किन्तु अथर्व वेद के साथ इसका घनिष्ठसम्बन्ध है ।^{१०} सुश्रुत संहिता^{११} आयुर्वेद के अथर्व वेद का उपाङ्ग बतलाती है ।

(१) ऋग्वेद - १०.९७, १६१, १६३, (२) ऋग्वेद - २.३३.४.,

(३) यजुर्वेद बाज. संहिता - १९.८१-९३, (४) ऋचः सामानि भेषजाः ।

गोप थ ब्राह्मण ११.६.४, (५) आथर्वधीराङ्गिरसादैवीर्मनुष्यजा उत ।

ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राणजिन्वसि । अथर्ववेद - ११.४.१६ ।

(६) ऋग्वेद - १०.९७, १६१, १६३ (७) ऋग्वेद - २.३३.४. (८)

यजुर्वेद बाज. संहिता - १९.८१-९३ (९) ऋचः सामानि भेषजाः । गोप

थ ब्राह्मण ११.६.४ (१०) आथर्वधीराङ्गिरसादैवीर्मनुष्यजा उत । ओषधयः

प्रजायन्ते यदा त्वं प्राणजिन्वसि । अथर्ववेद - ११.४.१६ ।

का प्रतिपादन करते हुए बहुत ही सुन्दर अन्न ब्रह्म का विवेचन किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में अन्न पचने की प्रक्रिया^१, निद्रा एवं स्वप्न का उल्लेख,^२ हृदय की नाड़ियों का वर्णन पामा (खाज, खुजली) रोग का कथन,^३ रोग मुक्त होकर एक सौ सोलह वर्ष की आयु प्राप्ति के उपायों का विवेचन-किया गया है।^४

बृहदारण्यकोपनिषद् में भी आयुर्विज्ञान विषयक कई उल्लेख प्राप्त होते हैं - अश्व के अङ्गों^५ और अश्वसिर^६ को मानव में प्रत्यारोपित करना शल्य चिकित्सा का उदाहरण हैं। इसी उपनिषद् में हृदय एवं उस से सम्बन्धित नाड़ियों का विवेचन,^७ मनुष्य के अङ्गों का वर्णन,^८ मनुष्य तथा वृक्ष की तुलना,^९ नेत्रसंरचना,^{१०} मृत्यु-वर्णन^{११} और शाप जन्य रोगोत्पत्ति^{१२} का विवेचन है।

अष्टाङ्ग आयुर्वेद^{१३} - शल्य, शालाक्य, काय, भूतविद्या, कौमार भृत्य, अगद, रसायन और वाजीकरण का वेद में पृथक्-पृथक् नामोल्लेख के साथ वर्णन प्राप्त नहीं होता है। किन्तु वेद में किसी न किसी रूप में इनसे सम्बन्धित चिकित्सा का उल्लेख प्राप्त होता है।

शल्यचिकित्सा - शल्य चिकित्सा से सम्बन्धित कई उदाहरण ऋग्वेद में विभिन्न स्थलों में प्राप्त होते हैं (उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है प्रस्तुत शोध पत्र का पृष्ठ तीन)। अथर्व वेद में यान्त्रिक चिकित्सा के द्वारा शल्य चिकित्सा के

१. तैत्ति. उप. ३.२, ७-१०

३. छान्दो. उप. ४.३.३.

५. छान्दो. उप. ४.१.८.

७. बृह. उप. १.१.१

९. बृह. उप. २.१.१९

११. बृह. उप. ३.९.२८

१३. बृह. उप. ३.२.११

२. छान्दो. उप. ६.४

४. छान्दो. उप. ८.६.१.

६. छान्दो. उप. ३.१६.

८. बृह. उप. ५.१७

१०. बृह. उप. २.४.११

१२. बृह. उप. २.२.२

उल्लेख हैं - जैसे मूत्रघात होने पर शलाका के द्वारा मूत्रनिस्सारण,^१ अयस् शलाका से अपची (गण्डगाला) का भेदन करना^२, प्रसव सम्बन्धी समस्या के समाधानार्थ योनि भेदन,^३ गर्भाधान में दोष होने पर गर्भाशय का भेदन कर दोष का निवारण करना^४ शालक्य तन्त्र - शरीर के ऊर्ध्व भाग में स्थित, नेत्र, कर्ण, नासिका और मुख आदि अवयवों में होने वाली व्याधि-की चिकित्सा जिस तन्त्र (विधि) द्वारा साध्य होती है उसे शालाक्य तन्त्र कहा जाता है।^५ शालाक्य शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि 'शलाका तस्याः कर्म, तत्प्रधानं तन्त्रं शालाक्यं, शलाकया यत् कर्म क्रियते तच्छालाक्यम्'^६।

अथर्ववेद^७ में शालक्य तन्त्र चिकित्सा विषयक नेत्र, मुख कर्ण, शिर आदि के रोग और उनके उपचार का वर्णन किया गया है। कर्ण और मुख में होने वाली यक्ष्मा शीर्षव्य सम्बन्धी रोग के अन्तर्गत ही^८ हैं। यह रोग मनुष्य को अन्धा बना देता है।^९ शिरो रोग को कुष्ठ नामक औषधि दूरकरती है।^{१०}

नेत्ररोग में होनेवाले ऐलव^{११} बभ्रु बभ्रुकरण और निराल आदि का अथर्ववेद में उल्लेख है। दन्तरोग तथा इसके दूर करने की ओषधि,^{१२} केश रोग^{१३} और इनके दूर करने की ओषधि का उल्लेख अथर्व वेद में मिलता है।

१. बृह० उप० ३.७.२, २. सुश्रुत संहिता सूत्र १.७ चरकसंहिता से किञ्चित् नाम परिवर्तन के साथ नामोल्लेख प्राप्त होता है - १. काय, २. शालक्य, ३. शल्यापहर्तृक, ४. विषगर-वैरोधिक प्रशमन, ५. भूतरण। (च.सं. सूत्र - २०.२८), ३. अथर्ववेद (शौनक सं०) १.३.६-९, ४. अथर्ववेद (शौनक सं०) ७.७८.१-२, ५. अथर्ववेद - १.११.१-६. ६. अथर्ववेद - ५.२५.१-१३; ६.८१.१-३; ८.६.१-२६, ७. सुश्रुतसंहिता सूत्र - १.१०, ८. वही, ९. अथर्ववेद - ९.८.१-४, १०. यस्यहेते प्रच्यवते यक्ष्मः कर्णत आस्यतः सर्वं शीर्षव्यं ते रोगं बहिर्तिमन्त्रयामहे ११. अथर्ववेद ९.८.३, १२. यः कृणोति प्रमोतमन्धं कृणोति पूरुषम्। अथर्ववेद ९.८.४, १३. अथर्ववेद ५.४.१०,

इन ओषधियों में नितल्ली,^१ शमी,^२ और शतावर^३ के प्रयोग का उल्लेख है ।

काय चिकित्सा - काय शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार से कही गयी है - 'कायति शब्दं करोति इति कायोजाठराग्निस्तदुक्तं भोजे जाठर, प्राणिनाग्नि काये त्यभिधीयते।'^४

अथर्व वेद काय चिकित्सा से सम्बन्धित रोग और उनका निदान का भाण्डार है ।

भूतविद्या - इस विद्या का बहुत अधिक वर्णन अथर्व वेद में है । इस से सम्बन्धित अनेक सूक्त एवं मन्त्र अथर्व वेद में प्राप्त हैं । यथा यातुधान नाशन,^५ पिशाच क्षय,^६ और रक्षोघ्न ।^७

कौमार-भृत्य - 'कौमाराणां भृतिर्धारणं पोषणं चेति कुमार भृतिः, कुमारभृतेरिदं कौमार भृत्यम् ।'^८ अर्थात् कुमारो (बालकों) का धारण-पोषण कुमार भृति कहलाता है, इससे सम्बन्धित होने के कारण इसे कौमार भृत्य कहते हैं । अथर्व वेद में कौमार भृत्य सम्बन्धी चिकित्सा का अनेक स्थानों पर उल्लेख है ।

अगदतन्त्र - सुश्रुत संहिता की विमर्श व्याख्या में अगद शब्द की व्युत्पत्ति निम्न लिखित है - गदो रोग, अगदो रोग प्रतीकारः तदर्थं तन्त्रम गदतन्त्रम् ।^१ सर्प, कीट, लूता बिच्छ आदि के काटने से उत्पन्न हुए विष के विषय में जानकारी करना और उस विष से उत्पन्न हुए विकारों का प्रशमन ही अगदतन्त्र का विषय है । 'अगद तन्त्र नाम सर्प कीट लूतावृश्चिकमूषिकादिदष्ट विषव्यञ्जनार्थं विविध विषसंयोगोपशमनार्थं च ।'^{१०}

१. अथर्ववेद ६.१०.३. सायण भाष , २. वही, ३. अथर्ववेद ६.१४०.१-३

४. अथर्ववेद ६.१३६.१-३ ५. अथर्ववेद ६.१४०.१-३

६. अथर्ववेद ६.३०.३ ७. अथर्ववेद ६.३०.३

८. सुश्रुत संहिता सूत्र (विमर्श) १.१४, ९. अथर्ववेद - १.८.१-३

१०. अथर्ववेद - १९.६६.१. ४.२०.१-९; १.२८.१-४

ऋग्वेद^१ में नाना प्रकार के विषैले सर्पों और विष के प्रभाव को । समाप्त करने वाली निन्यानवे ओषधियों का उल्लेख है । अथर्व वेद^२ में विष से विष को समाप्त करने की बात कही गयी है ' चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम्' । इस के अतिरिक्त अथर्व वेद^३ में अनेक तरह के विष, औषधि प्रयोग से दूर किये जाने का उल्लेख है ।

इस प्रकार से अगदतन्त्र से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री वेदों में प्राप्त होती है।

रसायनतन्त्र - रोगरहित दीर्घायुष्य प्रदान करने वाला तन्त्र रसायन तन्त्र है । हमारे ऋषि महर्षि जो दीर्घ जीवन प्राप्त करते थे, हजारों वर्षों तक नीर्जीवित रहते थे, इस का कारण उनका रसायन प्रयोग भी हो सकता है । ऋग्वेद^४ में वृद्ध च्यवन ऋषि को पुनः नवयौवन प्राप्तहोना और उनका दीर्घ जीवी होना रसायन तन्त्र का ही आधार है। वाग्भट्ट^५ ने रसायन के विषय में अपना मत प्रकट करते हुए लिखा है -

‘दीर्घमायुः स्मृतिर्मेधामारोग्यंतरुणंवयः

प्रभावर्णस्वरौदार्यदेहेन्द्रियबलोदयम् ॥

वाक्सिद्धिं वृषतां कान्तिमवाप्नोति रसायनात् ।

नामोपायं हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥

अर्थात् दीर्घायु, स्मृति, मेधाशक्ति, आरोग्य, यौवन पूर्ण आयु, प्रभा (तेज), वर्ण, स्वर, बल, वाक् सिद्धि वृष्यता, तथा कान्ति इन सभी की प्राप्ति रसायन से होती है। इस प्रशस्त रस (रक्त वीर्यादि धातु) के लाभार्थ किये जाने वाले उपाय रसायन कहलाते हैं ।

१. अथर्ववेद - ६.३२.२; १.७.१-७; ५.२९. १-१५

२. सुश्रुत संहिता सूत्र (विमर्शव्याख्या)-१.१३

३. अथर्ववेद - ७.३५. १-७; ५.२५.१-३,७,११८,६. १-२६.

४. सुश्रुत संहिता सूत्र (विमर्श व्याख्या) १.१४,

५. सुश्रुत संहिता सूत्र १.१४

अथर्व वेद^१ में भी रसायन तन्त्र के सन्दर्भ में अधिक सामग्री उपलब्ध होती है। अथर्व वेद में रसायन औषधियाँ निम्न लिखित कही गयी हैं यथा आपामार्ग^२ (सहस्रवीर्य) अरून्धती^३ (सहदेवी सायण के अनुसार है) अर्क^४, उदुम्बर^५ कपित्थ, कुष्ठ, जंगिड़^६, जीवन्ती^७, (गिलोय), जायमाण^८, दर्भ^९ (सहस्रवीर्य), दूर्वा^{१०}, न्यस्तिका^{११} (सायण के अनुसार शङ्खपुष्पी है), पाटा^{१२} (पाठा), पिप्पली^{१३}, पृश्नपर्णी^{१४}, प्रतिसर^{१५}, मण्डूकी^{१६}, मधुघ^{१७} (यष्टिमधु), मधुजाता^{१८}, माष^{१९}, शंखपुष्पी^{२०}, शतवार^{२१}, ऋषभ^{२२}, शेषहर्षिणी^{२३}, सोम^{२४} आदि।

वाजीकरण

सुश्रुत^{२५} संहिता के अनुसार वाजीकरण वह चिकित्सा है जिसके प्रयोग से मनुष्य पुंस्तशक्ति को प्राप्त करता है और उसमें “वीर्यवृद्धि होती है। भैषज्य-रत्नावली में उल्लेख है कि -

-
१. ऋग्वेद - १.१११.१-१६, २. अथर्ववेद - ५.१३.४, ३. अथर्ववेद - ४.६.२-८; ४.७.१-७; ६.१००.१-३; १०.४.१-२६, ५.१३.१-३, ७.८६.१-३, ६.१२.१-३, ६.५६.१.३, ७.५६.१-७. ४. ऋग्वेद १.११६.१०; १.११७.१३, ५. अष्टाङ्ग हृदय उन्स्था० ४१.२, ६. अथर्ववेद - ६.१०१.१-३, ६.४११-३, ७. अथर्ववेद - ४.१७.१-८; ४.१८; ४.१९; ७.६५, ८. अथर्ववेद - ६.१२.१-५; ५.५.१-९; ९. अथर्ववेद - ६.७२.१, १०. अथर्ववेद - १९.३१.१-४, ११. अथर्ववेद - ४.४.१-८, १२. अथर्ववेद - ५.४.१-८, १३. अथर्ववेद - २.४.१-१०, ३४. अथर्ववेद - ८.२.६, १५. अथर्ववेद - ६.१०७.१-४, १६. अथर्ववेद - १९.२८.१-१०, १७. अथर्ववेद - २.७.१-५, १८. अथर्ववेद - ६.१३६.१-५, १९. अथर्ववेद - २.२७.४, २०. अथर्ववेद - ६.१०.१-३ २१. अथर्ववेद - ३.२५.१, २२. अथर्ववेद - ८.५.१, २३. अथर्ववेद - ८.३.१०, २४. अथर्ववेद - १.३४.४, २५. अथर्ववेद - १.३.४.१,

येन नारीषु सामर्थ्यं वाजिवल्लभते नरः ।

येन वाप्यधिकं वीर्यं वाजी करणमेव तत् ॥^१

जिस औषधि के प्रयोग से मनुष्य स्त्रियों में

अश्व के समान सामर्थ्य प्राप्त करता है अथवा जिससे अधिक वीर्य प्राप्त करता है, उसी को वाजीकरण कहते हैं ।

ऋग्वेद में एक स्थान पर उल्लेख है कि काम एक मानसी शक्ति है । यह मन का रेतस है । यह सर्वप्रथम हृदय में स्पन्दित होता है । अतएव सबसे पहले काम ही उत्पन्न हुआ । यथा -

कामस्तदग्रे समवर्तताधि

मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।

सतो बन्धुमसति निरविन्दन्

हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा^२ ॥

बृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार आनन्द का एकमात्र स्थान उपस्थ है - यथा - सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेव^३ ।

वाजीकरण के अनेकानेक सन्दर्भ अथर्ववेद^४ में उपलब्ध होते हैं । शेषहर्षिणी^५ इन्द्रियशक्ति को प्रवर्धित करने वाली होती है ।

अथर्व वेद में नाना प्रकार के रोग और उनके उपशमनार्थ अनेक प्रकार की औषधियों का वर्णन है । सम्पूर्ण अथर्ववेद आयुर्विज्ञान के तत्त्वों से भरा हुआ है ।

१. अथर्ववेद - १२.२.५३, ६.१३०.१, २. अथर्ववेद - ६.१२९.१-३,

३. अथर्ववेद - १९.३६.१-६, ४. अथर्ववेद - १३.३.७,

५. अथर्ववेद - ४.४.१

ओषधियों के अतिरिक्त मणियों को धारण करने पर रोग की निवृत्ति होती थी । इस के अन्तर्गत निम्न लिखित माणियाँ हैं जैसे - तलाशमणि^१, यवमणि^२, फालमणि^३, (खदिरमणि), दर्भमणि^४, औदुम्बर मणि^५, जङ्घिमणि^६, शतवारमणि^७, अस्तुतमणि^८, स्वाक्त्यमणि^९, शङ्खमणि^{१०}, आञ्जनमणि^{११}, हरिशृङ्गमणि^{१२}, वरणमणि^{१३}, अभिवर्तमणि^{१४}, लोभमणि^{१५}, अरलुमणि^{१६}, दशवृक्षमणि^{१७}, शूलमणि^{१८}, प्रतिसरमणि^{१९}, सर्षपकाण्डमणि^{२०} इत्यादि ।

१. अथर्ववेद - ६.१६.१, ३; ६.१२३.५;
२. सु.सं.सूत्र० १.१९
३. भैषज्यरत्ना० वाजी करण प्रकरण पृ. ७६४ सम्पा.पं. लाल चन्द्र जी वैद्य, अष्टम संस्करण १९७६, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली
४. ऋग्वेद १०.१२९.४
५. बृह० २.४.११
६. अथर्ववेद ६.७२.१-३; ६.१०१, १-३, ४.४.१-१०
७. अथर्ववेद - ४.४.१
८. अथर्ववेद - ६.१५.३
९. अथर्ववेद - ६.१४२.१-३
१०. अथर्ववेद - १०.६.१-३५
११. अथर्ववेद - १९.२८, १९.२९, १९.३०
१२. अथर्ववेद - १९.३१
१३. अथर्ववेद - २.४, १९.३; १९.३५
१४. अथर्ववेद - १३.३६
१५. अथर्ववेद - १९.४६
१६. अथर्ववेद - ४.९.४-८
१७. अथर्ववेद - ४.१०
१८. अथर्ववेद - ४.९
१९. अथर्ववेद - ३.७;
२०. अथर्ववेद - १०.३;
- कौशिकगू. सू. २७.२९
- कौशिकगू. सू. १०.२

आयु के संरक्षण और संवर्धन के लिए प्राकृतिक तत्त्वों से मनुष्य अपने जीवन को संरक्षित रखने में पूर्णतया सक्षम रहता है। इन प्राकृतिक तत्त्वों में सूक्ष्म तत्त्व तेज^१, (अग्नि और सूर्य) वायु^२ और आकाश^३ तत्त्व हैं। इनके द्वारा चिकित्सा कार्य किया जाता है।

इस प्रकार वेद और विज्ञान के अन्तर्गत आयुर्विज्ञान सन्दर्भों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेद सभी विद्याओं के मूल स्रोत हैं। वेदों में विषय ऐसा नहीं है जिसका उल्लेख वेदों में किसी न किसी रूप में प्राप्त न हो। इस लिए मोनियर विलियम्स ने इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि हिन्दू केवल व्याकरणशास्त्र के ज्ञान में श्रेष्ठ न थे अपितु वे ज्यौतिष, अङ्कगणित, बीजगणित, वनस्पति और औषधि का ज्ञान बहुत पहले ही प्राप्त कर चुके थे जिसका प्रचीन यूरोप के देशों ने बहुत बाद में संवर्धन किया।

“More than this, the Hindus had made considerable advances in astronomy, algebra, arithmetic, botany, and medicine, not to mention their superiority in grammar, long before some of these sciences were cultivated by the most ancient nations of Europe.

Sanskrit English Dictionary, P. - 21

-
१. अथर्ववेद - १.२९ कौशिकगृ० सू० १६.२८
 २. कौशिकगृ० सू० २६.१६ और १७
 ३. काशिकगृ० सू० ४३.१
 ४. कौशिकगृ० सू० २७.५
 ५. कौशिकगृ० सू० ३१.७

धातु विज्ञान

वैदिक ग्रन्थों में खनिज पदार्थ, धातु और मिश्र धातुओं के उपयोग के बारे में पर्याप्त विवरण मिलता है। कृष्णयजुर्वेद का एक उदाहरण इस प्रकार है-

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे
वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे सीसं च मे त्रपुश्च मे श्यामं च मे लोहं च
मे ।
- कृ०यजु० ४-७-५

‘मैं पत्थर, मिट्टी, पर्वत, गिरि, वालू, वनस्पति, सुवर्ण, ताम्र, त्रपु, सीस और लौह को चाहता हूँ ।’

अन्य एक उदाहरण में बढईयों, रथ निर्माताओं, कुम्हारों, लोहारों को नमस्कार करने का उल्लेख है -

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमः ।

(कु०यजु० ४-५-१२)

नमः कुलालेभ्यः कमरिभ्यश्च वो नमः ।

(कु०यजु० ४-५-१३)¹

सिन्धु और सरस्वती नदी की घाटियों तथा अन्य प्राचीन देशीय खनन स्थलों से प्राप्त शिल्पकृति और लोहकिट्ट पिण्ड इसकी पुष्टि करते हैं। स्वर्ण, चाँदी, ताम्बा, वंग, सीस और लोहे का ज्ञान वैदिक हिन्दुओं के पास था ।

स्वर्ण -

स्वर्ण का उपयोग नूपुर, अंगूठी इत्यादि आभूषणों के निर्माण में होता था। नीचे का चित्र मोहनजोदड़ो से प्राप्त कुछ आभूषणों को दर्शाता है-

1. Indian Tradition of Chemistry and Chemical Technology, p



कर्णाटक का हट्टी स्वर्ण खनि प्राचीन स्वर्ण खनन स्थानों में एक है जो २००० साल पुराना है। मान्यता यह है कि सिन्धुघाटी में उपयुक्त स्वर्ण हट्टी स्वर्ण खनि से आये थे।

ताम्र पीतल और कांस्य

ताम्र और उसका मिश्रधातु पीतल (ताम्र+यशद) और कांस्य (ताम्र+वंग) का प्रचलन वैदिक काल से ही होता आया है। नीचे दिया गया हाथी का चित्र ३००० साल पुराना है। ढलाव की उत्कृष्ट तकनीक उसमे देफी जा सकती है। ताम्र का उत्खनन मुख्यतः खेतड़ (राजस्थान) में होता था। यह खेतड़ी खनिज सामान्यतः १००० वर्ष पुराना है। विकिरण परीक्षा (radiocarbon date) से यह प्रमाणित हुआ है कि चित्रदुर्ग (कर्णाटक) की ताम्र खनि २००० साल पुराना है।



चित्र में दर्शायी गयी बुद्धमूर्ति जो ७'६" लम्बी और प्रायः एक टन भारी है, वह ताम्र लौहकार्य में कीगई उत्कृष्ट उपलब्धियों का निदर्शन है। यह बुद्धमूर्ति सुलतानगंज (बिहार) के बौद्ध विहार के अवशेषों से प्राप्त हुई। मूर्ति का सम्भाव्य काल है ई.स. - ५००। आज यह मूर्ति इंग्लैण्ड के बर्मिंग होम ग्रहालय में रखी हुई है।²

लोहा (अयस्)

वैदिक साहित्य में लोहा के धातुशास्त्रीय प्रयोगों का विवरण तो नहीं मिलता है किन्तु मान लेना उचित होगा कि लौह शुद्धीकरण के लिये उपयुक्त छोटी

भट्टियाँ 'खुला तल' प्रकार की थी। बाद के वैदिक ग्रन्थों में यह देखा गया कि 'अयस्' शब्द जो सामान्यतः ताम्र या पीतल के समान धातुओं के लिये उपयुक्त होता था, वह लोहा को निर्दिष्ट करने के लिये उपयुक्त होने लगा। पुरातात्विक प्रमाणों के आधार पर हम यह सुनिश्चित कर सकते हैं कि लोहा का परिचय भारत में १०००-८०० ई.पू. के बीच हुआ। अंत्रजिखेरा द्वितीय (जहाँ कुछ लौहवस्तु प्राप्त हुए हैं) के ऊपरी संस्तरों से प्राप्त कोयले के नमूने के विकिरण (Radio carbonic) परीक्षण यह बताते हैं कि यह काल १०२५ - ११० ई. पू. है। हस्तिनापुर में चित्रित धूसर बर्तन के बाद के संस्तरों से प्राप्त लोहमल (अयः किट्ट, मण्डूर)³ के टुकड़े बताते हैं कि वहाँ लोहा पिघलने की प्रक्रिया ११०० - ८०० ई. पू. में ही थी। यह उल्लिखित करना आवश्यक है कि प्रारम्भिक लौह पिघलन प्रक्रिया का अनुसरण आशिया मैनर और कोकेसस् के प्रदेशों में ईसापूर्व द्वितीय सहस्राब्दी में ही किया जाता था और ई. पू. द्वितीय सहस्राब्दी के अन्त तक पूर्व देशों में बड़े पैमाने पर लोहा का उपयोग होता था। प्रायः यहीं से भारतीय लोहकारों ने अपना तकनीकी ज्ञान प्राप्त किया होगा। किन्तु महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारत में लोहा के आविष्कार के पाँच या छ-शतकों के बाद तकनीकी प्रवीणता इतनी ऊँचाई तक पहुँच गयी कि भारतीय लोहा और इस्पात वस्तुओं को पाश्चात्य जगत् में भरपूर प्रशंस मिली।

3) A Cincise History of Science in India - 5, pp, 287-90.

उत्तर-वैदिक काल में अधिकांश उल्लेखनीय उपलब्धि लोहा और इस्पात तकनीकी के क्षेत्र में हैं। इस काल में विविध यन्त्र (Tool) और साधन के निर्माण में लोहे के उपयोग का ज्ञान न केवल ऊँचाई पर था अपितु सर्वत्र व्याप्त भी था। इस काल में ही *धौंकनी* (follows) व्यवहार में आयी और परिणामतः विविध तरह के यन्त्र और साधनों का निर्माण बड़े पैमाने पर करने में लौहकार समर्थ हुए। विविध आकार के लोह उपकरण - जैसे छड़, छुरा, अंकुश, हंसिया, बाण, कुदाल, कराल, अंगूठी, कील, गंडासा आदि विभिन्न पुरातात्त्विक स्थलों से प्राप्त हुए हैं जिनका काल ई. पू. ६००-२०० वर्ष होगा। निवासयोग्य स्थानों का विस्तार करने के लिये जंगल काटने में तेज धारवाले लोहनिर्मित साधनों का व्यापक प्रयोग होता था। लोहे की नोक वाला हल का उपयोग गभीरता तक जोतने के लिए उपयुक्त होता था जिसके कारण फसल का आधिक्य होता था। इस काल में निर्मित लोह और इस्पात के साधनों की गुणवत्ता अत्यन्त उत्कृष्ट थी और कुछ तो अद्वितीय थी। *ट्रेसियस* (Ktesias ई.पू. पांचवीं शताब्दी) ने दो तलवारों का उल्लेख किया है जो *अर्टाक्ससस नेमोन* (Artaxesus Mnemon) को भेंट स्वरूप दी गई थी। बाद में *क्विंशियस कर्शियस* (Quintius Curtius) ने लिखा है कि जो तलवार तक्षशिला के पोरस के द्वारा सिकन्दर को भेंट स्वरूप दी गई (ई.पू. ३२६) वह तो सौ गुना योग्यता वाली थी।

प्रसिद्ध लौहस्तम्भ (ई.स. ४००) जो अभी महरौली (दिल्ली) में रखा हुआ है, उस काल के लोहकारों के अद्वितीय कार्यकुशलता का निदर्शन है। १६०० सालों से वातावरण की तरंगों से सम्पर्कित होने पर भी वह बिना जंग के साफ खड़ा है।

स्तम्भ का विवरण

बाह्य स्वरूप

ऊँचाई	-	२४'३"
व्यास - ऊपर में	-	१२"
नीचे	-	१४"
भार	-	६ टन

रासायनिक संघटन

Fe	- 99.72%
C	- 0.08%
Si	- 0.46%
S	- 0.006%
P	- 0.114%
Mn	- नहीं

श्री वि० बाल, अपनी पुस्तक 'इकानमिक जियालजी आफ इण्डिया' में लिखते हैं - 'आज विश्व में कुछ स्थान होंगे जहाँ इस तरह के लोह का निर्माण होता है ।

कर्णाटक के कोडचाद्रि पर्वत के ऊपर ३२ फुट लम्बा लौहस्तम्भ है । प्रतिकूल हवामान रहने पर भी उसमें जंग नहीं आया है ।

लौहनिर्माण कला भारत के सब जगह के निवासियों को मालूम थी । उच्चाकिस्म के लोहनिर्माण में दक्षिण भारत प्रसिद्ध था । प्राचीन काल के लौहकार लोहा को उच्चाकोटि के इस्पात के रूप में परिणत करने के लिए आवश्यक कार्बन के योग्य अनुपात को अच्छी तरह से जानते थे । वृत्ताकार भट्टी में मूषों को सुप्त कमान के आकार में रखा जाता था और अनेक घण्टों तक उसको तापा जाता था ।

यूरोपीय देशों में और मध्यपूर्व देशों में तलवार के निर्माण में उपयुक्त स्पात को 'वूट्ज' (Wootz) कहा जाता था। कुछ पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार यह 'वूट्ज' शब्द कन्नड़ भाषा के शब्द 'उक्कु' का भाषान्तरण या तद्भव है। कुछ वर्ष पूर्व बेंगलूरु से ६० कि०मी० दूर वानहल्ली में की गई रासायनिक खुदाईयों से एक लौह-भट्टी मिली है जिसका काल सामान्यतः २५०-३५० वर्ष ई० पू० आँका गया है।

जस्ता-यशद

आसवन प्रक्रिया (Distillation Process) के द्वारा कच्ची जस्ता से शुद्धजस्ता को निकालने की विधि का आविष्कार निश्चय ही भारतीयों के लिए हानू गर्व का विषय है। राजस्थान के 'जवर' में प्राचीन यशद खनिज (४०० वर्ष ई०पू० के काल के) और इसकी धातुशास्त्रीय संस्करण प्रक्रियाएँ देखी गई हैं। इस आसवन प्रक्रिया में कच्चा यशद को यशद आक्साईड के रूप में परिवर्तित करने के लिए उसको पहले भूँजा जाता था। बाद में भूँजे हुए कच्चे यशद को गेयला और अपेक्षित प्रमाण के नमक (Sodium Chloride) के साथ मिट्टी के भकों में तापा जाता था। उष्णता को 1100° पर बनाया रखा जाता था। इसे यशद आक्साईड यशद बाष्प के रूप में परिवर्तित होता था और उसको नीचे रखे गये बर्तनों में द्रवरूप में संगृहीत किया जाता था। नीचे यशद आसवन प्रक्रिया को दर्शाया गया है -

यूरोप में यह यशद आसवन प्रक्रिया ई०स० १८ वीं शताब्दी तक ज्ञात नहीं थी। १७४८ ई० स० में विलियम चैम्पियन ने इस प्राचीन भारतीय प्रक्रिया को इंग्लैण्ड में परिचय कराया और इसका पेटेण्ट भी किया।

जन्तु विज्ञान

वैदिक साहित्य में २६० प्राणियों का उल्लेख है। यथा - सस्तनी पक्षी, सरीसृप, मत्स्थ और कीट। अथर्ववेद में मनुष्य और प्राणियों के रोगों को उत्पन्न करनेवाले विषयुक्त १६ विध कृमियों का वर्णन है। पालक जानवारों में गाय, बैल, भैंस, हाथी, घोड़ा, भेड़ बकरी कुत्ता और बिल्ली प्रमुख हैं।¹

श्यों और प्राणियों ने कवियों, कोशकारों; विश्वकोशकारों और दार्शनिकों का ध्यान अपनी ओर पर्याप्त मात्रा में आकृष्ट किया। उन्होंने अपनी कृतियों में उन सस्यों एवं प्राणियों के प्रभेद, पहचान, उद्भव और निवास स्थान इत्यादियों के बारे में पर्याप्त विवरण दिया है। कालिदास ने अपने महाकाव्य और नाटकों में शस्य एवं प्राणियों उसमें भी विशेषतः पक्षियों एवं कीड़ों का विस्तृत विवरण दिया है। अमरकोष में विस्तार से शस्यों एवं प्राणियों का विवरण उनके उद्भव एवं निवासस्थान और स्वभाव के अनुसार प्रदत्त पर्यायपदों के साथ दिया गया है। 'बृहत्संहिता' में शस्यों का² और गाय, कुत्ता, मुर्गी, बकरी, घोड़ा, हाथी इत्यादि प्राणियों के विकृति विज्ञान का विवरण दिया गया है।

वैशेषिकदर्शन के व्याख्याकार प्रशस्तपाद ने प्राणियों एवं शस्य का सरल एवं अर्थपूर्ण वर्गीकरण करने का प्रयास किया है। प्राणियों के स्थूल रूप से दो भागों में बाँटा गया। यथा - योनिज और अयोनिज। योनिज को फिर से दो भागों में बाँटा गया। यथा - जरायुज और अण्डज।

तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली के प्रथम अनुवाक में बताया गया है कि इस सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति परब्रह्म परमात्मा से हुई।

1. A concise History of science in India, 7.pp. 379-78
2. A Concise History of Science in India, 7.pp. 385
3. A Concise History of Science in India, 7.pp.379-80

‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन-आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ।

तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली, प्रथम अनुवाक

उस परब्रह्म से सर्वप्रथम आकाश तत्त्वकी उत्पत्ति हुई । आकाश से वायु तत्त्व, वायु से अग्नितत्त्व, अग्नि से जलतत्त्व, जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई ।

पृथ्वी से नानाप्रकार की ओषधियाँ, ओषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष की उत्पत्ति हुई ।

द्वितीय अनुवाक में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि भूलोक में उत्पन्न हुए सभी प्राणी अन्न से ही उत्पन्न हुए हैं । अन्न के परिणमन से उत्पन्न ‘रस’ और ‘वीर्य’ से ही उनके शरीर बने हैं और अन्न से ही उनका पालन-पोषण होता है ।

भारतीय परम्परा में ८४ लाख योनियों की कल्पना की गई है । इन समस्त प्राणियों को स्थूल रूप से तीन वर्गों में विभाजित किया गया है -

१. जलचर - जल में रहनेवाले सभी प्राणी
२. स्थलचर - पृथ्वीपर विचरण करने वाले मनुष्य आदि सभी प्राणी।
३. नभचर - आकाशगामी पक्षी ।

भागवतपुराण का वर्गीकरण

भागवत पुराण में समस्त प्राणियों को उनके जन्म के अनुसार चार भागों में विभाजित किया गया है -

१. जरायुज (गर्भज) - माता के गर्भ से जन्म लेने वाले मनुष्य और पशु जिनमें जरायु (गर्भावरण) होते हैं ।

२. अण्डज - अण्डों से उत्पन्न होनेवाले प्राणियों को इसमें सम्मिलित किया गया है, जैसे पक्षी, मछली, सर्प आदि ।
३. स्वेदज - मल, मूत्र पसीने आदि से उत्पन्न होनेवाले क्षुद्र जन्तु ।
४. उद्भिज - पृथ्वी एवं वनस्पतियों से उत्पन्न होनेवाले प्राणियों को इस वर्ग में सम्मिलित किया गया है ।

इस पुराण में पशुओं को दो वर्गों में बाँटा गया है पालतू और जंगली। पशुओं की शरीर-रचना के अनुसार भी वर्गीकरण किया गया है ।
यथा -

१. एकशफ - (एक खुर वाले पशु) खर (गधा) अश्व (घोड़ा), अश्वतर (खच्चर), गौर (एक प्रकार की भैंस) हरिण इत्यादि ।
२. द्विशफ - (दो खुर वाले पशु) - गय, बकरी, भैंस, कृष्ण मृग आदि।
३. पंच-अङ्गुल (पांच अंगुलि) नखों (पंजा) वाले पशु - सिंह, व्याघ्र, गज, वृक, भालू, श्वान, शृगाल आदि ।⁴

चरक का वर्गीकरण

चरक ने भी प्राणियों को उनके जन्म के अनुसार जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज वर्गों में विभाजित किया है (चरकसंहिता, सूत्रस्थान, २७/३५-५४) । उन्होंने प्राणियों के आहार विहार के आधार पर भी निम्नप्रकार से वर्गीकरण किया है -

१. प्रसह - जो बलात् छीनकर खाते हैं । इस वर्ग में गौ, गदहा, खच्चर, ऊँट, घोड़ा, चीता, सिंह, रीछ, वानर, भेड़िया, व्याघ्र पर्वतों के पास रहने वाले बहुत बालों वाले कुत्ते; बभ्रु, मार्जार कुत्ता, चूहा, लोमड़ी, गीदड़, बाघ, बाज, कौवा, शशधनी (ऐसे पक्षी जो शशक को भी अपने पंजों में पकड़ कर उठा के ले जाते हैं) चील सदृश, भास, गिद्ध, उल्लू सामान्य घरेलू चिड़ियाँ (गोरैया), कुरर-वह पक्षी जो जल स्थित मछली को अपने नख से विद्ध कर उड़ा ले जाता है ।

४. प्रचीन भारत में विज्ञान और शिल्प - पृ-सं. १०७-११३

२. **भूमिशय** - बिलों में रहने वाले जन्तु-सर्प (श्वेत-श्यामवर्ण का) चित्रपृष्ठ (जिसकी पृष्ठ चित्रित होती है), काकुली मृग-एक विशेष प्रकार का सर्प - मालुयासर्प, मण्डूक (मेढ़क), गोह, सेह, गण्डक, कदली (व्याघ्र के आकार की बड़ी बिल्ली), नकुल (नेवला), श्वावित् (सेह का भेद), चूहा आदि ।

३. **अनूपदेश के पशु** - अर्थात् जल प्रधान देश में रहनेवाले प्राणी। इन में सूमर (महा शूकर), चमर (जिनकी पूँछ चंवर बनाने के काम आती है), गैण्डा, महिष (जंगली बैसा), नीलगाय, हाथी, हिरण, वराह (सुअर) बारहसिंगा - बहुत सिंगो वाला हिरण सम्मिलित है ।

४. **वारिशय** - जल में रहने वाले जन्तु । कछुआ, केकड़ा, मछली, शिशुमार (घड़ियाल, नक्र की एक जाति) तिमिंगिल, शुक्ति (सीप का कीड़ा) शंख, ऊदबिलाव, कुम्भीर (घड़ियाल), मकर (मगरमच्छ) आदि ।

५. **वारिचारी** - जल में संचार करने वाले पक्षी । हंस, क्रौञ्च, बलाका, बगुला, कारण्डव (एक प्रकार का हंस), प्लव, शरारी, केशरी, मानतुण्डक, मृणालकण्ठ, मदगु (जलकाक), कादम्ब (कलहंस), काकतुण्डक (श्वेत कारण्डव - हंस की जाति) उत्क्रोश (कुरर पक्षी की जाति) पुण्डरीकाक्ष, चातक, जलमुर्गा, नन्दी मुखी, सुमुख, सहचारी, रोहिणी, सारस, चकवा आदि ।

६. **जांगल पशु** - स्थल पर उत्पन्न होने वाले तथा जंगल में संचार करने वाले पशु - चित्तल, हिरण, शरभ (ऊँठ के सदृश बड़ा और आठ पैर वाला जिसमें चार पैर पीठ पर होते हैं - ऐसा मृग), चारुष्क (हरिण की जाति), लाल वर्ण का हरिण, एण (काला हरिण) शम्बर (हरिण भेद), वरपोत (मृग भेद), ऋष्य आदि जंगली मृग ।

७. **विष्किर पक्षी** - जो अपनी चोंच और पैरों से इधर-उधर बिखेर कर खाते हैं वे विष्किर पक्षी हैं। इनमें लावा (बटेर), तीतर, श्वेत तीतर, चकोर, उपचक्र (चकोर का एक भेद), लाल वर्ण का कुक्कुभ (कुको), वर्तक, वर्तिका, मोर, मुर्गा, कंक, गिरिवर्तक, गोनर्द, क्रकर और बारट आदि।

८. **प्रतुद पक्षी** - जो चोंच या पंजों से बार-बार चोट लगाकर आहार को खाते हैं। कठफोड़ा, भृंगराज (कृष्णवर्ण का पक्षी विशेष), जीवन्जीवक, (विष को देखने से ही इस पक्षी की मृत्यु हो जाती है), कोकिल, कैरात (कोकिल का भेद), गोपपुत्र, प्रियात्मज, लट्वा, बभ्रु, वटहा, डिण्डिमानक, जटायु, लौहपृष्ठ, बया, कपोत (धुग्धू), तोता, सारंग (चातक), चिरटी, शारिका (मैना) कलविंक (गृहचटक अथवा लाल सिर और काली गर्दन वाली गृहचटक सदृश चिड़ियाँ), चटक, बुलबुल, कबूतर आदि।

उपर्युक्त वर्गीकरण के साथ चरक ने इन प्राणियों के मांस और उसके उपयोग के साथ ही वात, पित्त और कफ पर उसके प्रभाव की भी विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। चकोर, मुर्गी, मोर, बया और चिड़ियों के अंडों की भी आहार के रूप में चर्चा की गई है।

ऐसे ही सुश्रुत के सुश्रुसंहिता, पाणिनि के अष्टाध्यायी, पतञ्जलि के महाभाष्य, अमरसिंह के अमरकोष दर्शन के प्रशस्त पाद भाष्य आदि ग्रन्थों में प्राणियों के वर्गीकरण के विस्तृत विवरण मिलते हैं।⁵

पशु-चिकित्सा

पुराणों में अन्य विषयों के साथ-साथ पशु-चिकित्सा के विषय भी उल्लेख मिलते हैं। अश्वों की चिकित्सा के लिए आयुर्वेद का एक अलं विभाग था। इसे 'शालिहोत्र' नाम रखा गया। अश्वों के सामान्य परिच-

उनके चलने के प्रकार, उनके रोग और उपचार आदि विषय पुराणों में वर्णित हैं। अग्निपुराण में अश्वचालन और अश्वचिकित्सा का विस्तृत विवरण है। गजचिकित्सा के साथ ही गजशान्ति के उपाय भी बताये गये हैं। गरुडपुराण में भी अश्वों का उपयोग और चिकित्सा के बारे में उल्लेख हैं। मत्स्यपुराण में पालकाप्य ऋषि के हस्तिविद्या विषयक ग्रन्थ का उल्लेख है। अग्निपुराण में गायों की चिकित्सा का भी विस्तृत विवरण है।

शालिहोत्रसंहिता में अश्वचिकित्सा

मानव चिकित्सा क्षेत्र में चरकसंहिता और शुश्रुतसंहिता जितनी महत्वपूर्ण है, अश्वचिकित्सा क्षेत्र में शालिहोत्र संहिता उतनी ही महत्वपूर्ण है। शालिहोत्र का काल ई.पू. लगभग ८०० वर्ष आंका जा सकता है। उनकी संहिता 'हय आयुर्वेद' एवं 'तुरंगशास्त्र' के नाम से भी प्रसिद्ध रही है। मूल ग्रन्थ में १२,००० श्लोकों का समावेश है। यह आठ भागों में विभक्त था। इस ग्रन्थ के कुछ ही भाग अब उपलब्ध हैं। इसमें अश्वों के लक्षण, उनके सभी रोग और उनके निदान, चिकित्सा, औषधियों और उनके स्वास्थ्य रक्षण के विचार विस्तार से बताये गये हैं। इस संहिता का अनुवाद अरबी, फारसी, तिब्बती एवं अंग्रेजी भाषाओं में किया गया है। पशुचिकित्सा विशेषज्ञों के अनुसार अश्व चिकित्सा के आधुनिक ग्रन्थ से भी उत्कृष्ट ग्रन्थ है यह संहिता।⁶

बृहस्पतिस्मृति, विष्णु धर्मोत्तर और अग्निपुराण में भी कृषि और तत्सम्बद्ध प्रचलनों का उल्लेख हैं। इस काल में कृषि के ऐसे महान् ग्रन्थ विरचित हुए जैसे कृषि-पराशर⁴ और वृक्षायुर्वेद जो कृषि और बागवानी के लिए समर्पित थे और कालान्तर में ये सन्दर्भ ग्रन्थ (reference manual) बन गये। कृषि सम्बद्ध प्रक्रियाओं की लोकोक्तियाँ उस काल के लोकसाहित्य में भी देखी गई हैं और कृषक उसके अनुसार जीने के लिए अभ्यस्त थे।

धर्मशास्त्र ग्रन्थों ने कृषि को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया और उन्होंने ब्राह्मणों को भी कृषि को अपनी वृत्ति के रूप में लेने को कहा। बौधायन ऋषि के अनुसार ब्राह्मण यदि सक्षम है तो वेदों का अध्ययन करते हुए कृषिकार्य को भी कर सकता है। यदि सक्षम नहीं है तो कृषि को छोड़ देना चाहिए।

वेदः कृषिविनाशाय कृषिवेदविनाशिनी ।

शक्तिमानुभयं कुर्यादशक्तस्तु कृषिं त्यजेत् ॥

- बौधायन - १-५-१०१

वृद्ध हारीतस्मृति में कहा गया है कि कृषि सभी वर्णियों के लिए सामान्य धर्म है।

कृषिस्तु सर्ववर्णानां सामान्यो धर्म उच्यते ।

इस के अलावा कृषि के लिए ही विशेषतः एक ग्रन्थ रचित किया गया, जिसका लेखक पराशरमहर्षि हैं। इस ग्रन्थ का नाम 'कृषिपराशर' है इसमें बुआई, जीताई, फसल, आदि के बारे में विस्तृत विवरण मिलते हैं

प्रारम्भिक विधि

कृषि कार्य के प्रारम्भ में इन्द्र, शुक्र, पृथुराम और पराशर व स्मरण और अग्नि और द्विज (ब्राह्मण) की पूजा करने के बाद हल चला चाहिए -

स्मर्तव्यो वासवः शुक्रः पृथुरामः पराशरः ।

सम्पूज्याग्निं द्विजं देवं कुर्याद्भिल प्रसारणम् ॥

- कृषिपराशर श्लो. १३३

जोताई

कृषि पराशर में जोताई की लम्बाई के साथ अन्य विषयों को भी बताया गया है । उन्होंने हल के आठ अंगों का विवरण 'इसा' और उसके मानों से प्रारम्भ करके दिया है ।

आठ बैलवाला हल सामान्य उपयोग में, छः बैलवाला कृषिकार्य में, चार बैलवाला दुष्ट जनों के कार्य में उपयुक्त होता था । एक या दो बैलवाला हल तो बैल को ही मार डालेगा ।

हलमष्टगवं प्रोक्तं षड्गवं व्यवहारिकम् ।

चतुर्गवं नृशंसानां द्विगवं तु गवाशिनाम् ॥

- कृषिपराशर - श्लो. ७६

गाय और गोष्ठ

हल खींचने वाले बैल काले लाल या मिश्रित रंग के होने चाहिए और शुद्ध श्वेत रंग के नहीं होने चाहिए । वे विकलांग नहीं होने चाहिए और इस कार्य के लिए योग्य होने चाहिए ।

वृषो व्यर्थकटिर्वर्ज्यश्छिन्नलाङ्गूलकर्णकः ।

सर्वशुक्लस्तथा वर्ज्यः कृषकैर्हलकर्मणि ॥

- कृषिपराशर, श्लो. १४१

ऐसी कृषि करनी चाहिए जिस में हलवाहकों का उत्पीडन न हो । हलवाहकों के उत्पीडन के द्वारा आर्जित शस्य सर्वविध कार्यों में निन्दित है ।

मूला, पुनर्वसु, पुष्य, श्रवण और हस्ता नक्षत्र होते हैं वे दिन जोताई के लिये शुभ हैं। दशमी, एकादशी, त्रयोदशी, द्वितीया, तृतीया, पंचमी और सप्तमी तिथियाँ; वृषभ, मीन, कन्या, मिथुन, धनु और वृश्चिक लग्न भी शुभ हैं। जोताई निरन्तर होनी चाहिये और उसको एक या तीन या पाँच रेखाओं में करनी चाहिये क्योंकि एक रेखावली अच्छी फसलदायिनी है।

एका जयकरी रेखा, तृतीया पार्थसिद्धिदा।

पञ्चसंख्या तु या रेखा बहुशस्यप्रदायिनी ॥

- कृ०प० श्लोक० १४३

बीजवपन

पराशर ने गार्ग्य मत को प्रकट करते हुए कहा है कि उत्तम बीज के संग्रह के लिये विशेष ध्यान देना आवश्यक है। बीज को मघा (जनवरी-फरवरी) या फाल्गुन (फरवरी मार्च) मास में संग्रहीत करके धूप में सुखाना चाहिये। उस राशि से अच्छे बीजों को अच्छी और सुरक्षित जगह पर रखना चाहिए और अस्वच्छ हाथों से उनका स्पर्श नहीं करना चाहिये। श्लो० - १५७-६७

कृषिपराशर में फसलों के शुभकाल और अशुभकाल, उनके सुरक्षित संग्रहणक्रम, शस्यों के लिये सिंचाई व्यवस्था, गोभर, कृषि से सम्बद्ध उत्सव इत्यादि के बारे में भी विस्तृत विवरण मिलता है।⁸

पर्यावरण विज्ञान

मानव जीवन का कोई भी पहलू ऐसा नहीं है जिसकी चर्चा वेद में न की गई हो और पर्यावरण भी इसका अपवाद नहीं है। वायु, जल, पेड़-पौधे, भूमि, आकाश, सूर्य आदि ये सब पर्यावरण के घटक हैं। वेद में इन सब तत्त्वों का देव नाम से कथन किया गया है। देव का अर्थ है दिव्य गुणों समन्वितम्। ये सब तत्त्व अपने दिव्य गुणों के दान से पर्यावरण को शुद्ध व स्वस्थ रखते हैं। वेद का कथन है कि मनुष्य वेद प्रतिपादित सौ वर्ष या सौ से भी अधिक वर्ष की आयु तभी प्राप्त कर सकता है जब वह शुद्ध वायु में श्वास ले, शुद्ध-स्वच्छ जल का पान करे, शुद्ध अन्न का भक्षण करे, शुद्ध मिट्टी में खेले कूदे और शुद्ध भूमि में खेती करे। परन्तु आज न केवल हमारे देश में ही अपितु समस्त भू मण्डल पर पर्यावरण प्रदूषण इतना बढ़ गया है कि मनुष्य को जल, वायु, अन्न, भूमि, मिट्टी कुछ भी शुद्ध रूप में सुलभ नहीं है। कल-कारखानों से निकले अपद्रव्य, धुआँ, गैस, कूड़ा कचरा जनसंख्या विस्फोट, वन-विनाश आदि इस प्रदूषण के कारण हैं। औद्योगिक उन्नति के फलस्वरूप प्रदूषण इस स्थिति तक पहुँच गया है कि कई स्थानों पर तेजाबी वर्षा (Acid Rain) हो रही है जिसका दुष्प्रभाव तालाबों के जीव जन्तुओं तथा भूमि की वनस्पतियों पर पड़ रहा है। बड़े-बड़े भवन विकृत हो रहे हैं। यदि इसी गति से यह प्रदूषण बढ़ता रहा तो वह दिन दूर नहीं जब यह भूमि मानव तथा अन्य प्राणियों के निवास योग्य नहीं रह जाएगी।

आज इस पर्यावरण-प्रदूषण की विकरालता को देखकर विभिन्न राष्ट्रों द्वारा पर्यावरण सुरक्षा हेतु प्रभावशाली कदम उठाए जा रहे हैं। विभिन्न राष्ट्रों की संयुक्त बैठक बुलाई जाती है जिनमें पर्यावरण प्रदूषण का अध्ययन करने, उसे रोकने के उपायों को क्रियान्वित करने हेतु अनेक सरकारी, अर्धसरकारी, व्यक्तिगत अथवा जनता की ओर से सामूहिक तथा सरकार के

कृषिं च तादृशीं कुर्यात् यथा वाहान्न पीडयेत् ।

वाहपीडार्जितं शस्यं गर्हितं सर्वकर्मसु ॥

- कृ०प०, श्लो०८४

सम्यक् पोषित बैल प्रातः सायं हल खींचने पर भी नहीं थकता है । गोष्ठ को साफ और गोमय रहित रखने पर पशु स्वस्थ रहते हैं । गोष्ठ में झाड़ू; उच्छिष्ट इत्यादि नहीं होने चाहिए क्यों कि ये सब उनके स्वास्थ्य को बिगाड़ देते हैं ।

वर्षा के बारे में भविष्यवाणी

पूर्व काल में वर्षाधिपति के अनुसार वर्षा के होने और न होने की गणना की जाती थी । पराशर ने ज्योतिषशास्त्रीय गणनाओं के द्वारा 'वर्षाधिपति' को जानने की पद्धति को विस्तार से बताया है ।

शाकं त्रिगुणितं कृत्वा द्वियुतं मुनिना हरेत् ।

भागशिष्टो नृपो ज्ञेयो नृपान्मन्त्री चतुर्थकः ॥

- कृ०प०, श्लो०१२

शक वर्ष को तीन गुणा करके फल को दो (२) जोड़कर सात से भाग करने पर जो भागफल प्राप्त होता है वह अधिपति को निर्दिष्ट करता है । जिस वर्ष में सूर्य अधिपति होगा उस वर्ष में वर्षा में वर्षा कम होगी और मानवों को बहुत तरह के कष्ट सहना पड़ेगा । जिस वर्ष के अधिपति चन्द्र होगा उस वर्ष में अच्छी वर्षा और शस्य समृद्धि होगी और लोग स्वस्थ रहेंगे । वैसा ही बुध, बृहस्पति और शुक्र वर्षाधिपति होने पर सुभिक्ष और शस्य समृद्धि होगी और लोग सन्तुष्ट रहेंगे ।

नैरुज्यं सुप्रचारश्च सुभिक्षं क्षितिमण्डले ।

यत्राब्दे चन्द्रजो राजा सर्वशस्या च मेदिनी ॥

धर्मस्थितिर्मनस्थैर्यं वृष्टिकारणमुत्तमम् ।
 यस्मिन्नब्दे गुरू राजा सर्वा वसुमतीमही ॥
 नृपाणां वर्धनं नित्यं धनधान्यादिकं फलम् ।
 राजा दैत्यगुरुः कुर्यात् सर्वशस्यं रसातलम् ॥

कृ.प. १७-२०

जिस वर्ष में कुज और शनि वर्षाधिपति होंगे उस वर्ष में हर जगह विपत्तियाँ होंगे ।

वर्षा का विवरण देता हुए पराशर ने मेघों के भेद को भी बताया है - यथा - आवर्त, संवर्त, पुष्कर और द्रोण । इस मेघ को पहचानने की पद्धति को भी बताया गया -

शकाब्दं वह्निसंयुक्तं वेदभागसमावृतम् ।
 शेषं मेघं विजानीयात् आवर्तादि यथाक्रमम् ॥

- कृ.प., श्लो. - २३

शक वर्ष को तीन जोड़कर चार से भाग करना चाहिए । प्राप्त भागफल आवर्थादि मेघों का निर्देश करता है । बाद में उन्होंने उनके लक्षण बताते हुए पुरुषों से ग्रहगति के अनुसार कृषि करने को कहा है । पौष (दिसम्बर-जनवरी) मास से लेकर होनेवाली वर्षा की मात्र के बारे में विस्तृत जानकारी देते हुए पराशर ने जलस्रोतों का अन्वेषण कर कृषि कार्य में संलग्न होने को कहा है ।

अनेन मानेन तु वत्सरस्य निरूप्य नीरं कृषिकर्म कार्यम् ।

- कृ.प., श्लो. - २७.

जोतने का समय

वर्षा के बारों में विस्तार से बताने के बाद पराशर ने अच्छा फसल पाने के लिये जोताई के शुभदिनों का विवरण दिया है । जिन दिनों में स्वाति, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, अत्तराभाद्रपद, रोहिणी, मृगशिरा,

मूला, पुनर्वसु, पुष्य, श्रवण और हस्ता नक्षत्र होते हैं वे दिन जोताई के लिये शुभ हैं। दशमी, एकादशी, त्रयोदशी, द्वितीया, तृतीया, पंचमी और सप्तमी तिथियाँ; वृषभ, मीन, कन्या, मिथुन, धनु और वृश्चिक लग्न भी शुभ हैं। जोताई निरन्तर होनी चाहिये और उसको एक या तीन या पाँच रेखाओं में करनी चाहिये क्योंकि एक रेखावली अच्छी फसलदायिनी है।

एका जयकरी रेखा, तृतीया पार्थसिद्धिदा।

पञ्चसंख्या तु या रेखा बहुशस्यप्रदायिनी ॥

- कृ.प. श्लोक. १४३

बीजवपन

पराशर ने गार्ग्य मत को प्रकट करते हुए कहा है कि उत्तम बीज के संग्रह के लिये विशेष ध्यान देना आवश्यक है। बीज को मघा (जनवरी-फरवरी) या फाल्गुन (फरवरी मार्च) मास में संग्रहीत करके धूप में सुखाना चाहिये। उस राशि से अच्छे बीजों को अच्छी और सुरक्षित जगह पर रखना चाहिए और अस्वच्छ हाथों से उनका स्पर्श नहीं करना चाहिये। श्लो. - १५७-६७

कृषिपराशर में फसलों के शुभकाल और अशुभकाल, उनके सुरक्षित संग्रहणक्रम, शस्यों के लिये सिंचाई व्यवस्था, गोभर, कृषि से सम्बद्ध उत्सव इत्यादि के बारे में भी विस्तृत विवरण मिलता है।⁸

पर्यावरण विज्ञान

मानव जीवन का कोई भी पहलू ऐसा नहीं है जिसकी चर्चा वेद में न की गई हो और पर्यावरण भी इसका अपवाद नहीं है। वायु, जल, पेड़-पौधे, भूमि, आकाश, सूर्य आदि ये सब पर्यावरण के घटक हैं। वेद में इन सब तत्त्वों का देव नाम से कथन किया गया है। देव का अर्थ है दिव्य गुणों समन्वितम्। ये सब तत्त्व अपने दिव्य गुणों के दान से पर्यावरण को शुद्ध व स्वस्थ रखते हैं। वेद का कथन है कि मनुष्य वेद प्रतिपादित सौ वर्ष या सौ से भी अधिक वर्ष की आयु तभी प्राप्त कर सकता है जब वह शुद्ध वायु में श्वास ले, शुद्ध-स्वच्छ जल का पान करे, शुद्ध अन्न का भक्षण करे, शुद्ध मिट्टी में खेले कूदे और शुद्ध भूमि में खेती करे। परन्तु आज न केवल हमारे देश में ही अपितु समस्त भू मण्डल पर पर्यावरण प्रदूषण इतना बढ़ गया है कि मनुष्य को जल, वायु, अन्न, भूमि, मिट्टी कुछ भी शुद्ध रूप में सुलभ नहीं है। कल-कारखानों से निकले अपद्रव्य, धुआँ, गैस, कूड़ा कचरा जनसंख्या विस्फोट, वन-विनाश आदि इस प्रदूषण के कारण हैं। औद्योगिक उन्नति के फलस्वरूप प्रदूषण इस स्थिति तक पहुँच गया है कि कई स्थानों पर तेजाबी वर्षा (Acid Rain) हो रही है जिसका दुष्प्रभाव तालाबों के जीव जन्तुओं तथा भूमि की वनस्पतियों पर पड़ रहा है। बड़े-बड़े भवन विकृत हो रहे हैं। यदि इसी गति से यह प्रदूषण बढ़ता रहा तो वह दिन दूर नहीं जब यह भूमि मानव तथा अन्य प्राणियों के निवास योग्य नहीं रह जाएगी।

आज इस पर्यावरण-प्रदूषण की विकरालता को देखकर विभिन्न राष्ट्रों द्वारा पर्यावरण सुरक्षा हेतु प्रभावशाली कदम उठाए जा रहे हैं। विभिन्न राष्ट्रों की संयुक्त बैठक बुलाई जाती है जिनमें पर्यावरण प्रदूषण का अध्ययन करने, उसे रोकने के उपायों को क्रियान्वित करने हेतु अनेक सरकारी, अर्धसरकारी, व्यक्तिगत अथवा जनता की ओर से सामूहिक तथा सरकार के

पर्यावरण शोध हेतु अनेक पुरस्कार दिए जा रहे हैं । रासायनिक इंजीनियरिंग के क्षेत्र में “पर्यावरणिक इंजीनियरिंग” “Environmental Engineering” एक प्रमुख अध्ययन शाखा के रूप में उभर रही है । जनता द्वारा “चिपको आन्दोलन” जैसे आन्दोलनों का भी सूत्रपात हुआ है हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि पर्यावरण के विषय में वेद की क्या दृष्टि है ।

वेद का सन्देश है कि यदि मनुष्य वायु, जल, भूमि, प्रकृति के घटकों को शुद्ध स्वच्छ रखता है तो पर्यावरण स्वयमेव हमारे लिए हितकारी व शुद्ध रहेगा । वेद हमारा मार्ग प्रशस्त करता है किस प्रकार हमें प्रकृति के उक्त तत्त्वों से उपयोग लेना है और कैसे इनकी रक्षा करनी है । अब क्रम प्राप्त पर्यावरण के इन घटकों पर वेद की दृष्टि से ही किंचित् विस्तार प्रस्तुत है:

वायुमण्डल की स्वच्छता और उसका प्रभाव -

वायु प्राण शक्ति है । इसके बिना हम जीवन की कल्पना ही नहीं कर सकते। वेद का कथन है कि केवल वायु ही नहीं अपितु स्वच्छ वायु का सेवन प्राणियों के लिए हितकर है । यह बात वेद के निम्नलिखित मन्त्रों से स्पष्ट होती है -

“वात आ वातु भेषजं शुभु मयोधु नो हृदे ।

प्राण आयूंषि तारिषत् ।”

(ऋग्वेद १०.१८६)

अर्थात् वायु हमें ऐसी औषधि प्रदान करे जो हमारे हृदय के लिए शान्तिकर एवं आरोग्यकर हो, वायु हमारी आयु को बढ़ाए । दूसरे मन्त्र -

यददो वात ते गृहे मृतस्य निधिर्हितः ।

ततो नो देहि जीवसे ।”

(ऋग्वेद १. १८६ ३.)

में वैदिक ऋषि वायु के अमृत तत्त्व की ओर संकेत करते हुए कह रहे हैं कि हे वायु ! जो तेरे घर में अमृत की निधि रखी हुई है, उसमें से कुछ अंश हमें भी प्रदान कर हम दीर्घजीवी होंगे ।

स्पष्ट है कि वायु के अन्दर विद्यमान अमृत की निधि आक्सीजन ही है यह प्राण वायु ही हमें प्राण देती है तथा शारीरिक मलों को विनष्ट करती है जिससे मनुष्य दीर्घजीवी होता है । इसके विपरीत प्रदूषित वायु में श्वास लेने से मनुष्य दुबला-पतला और अल्पायु होता शुद्ध स्वच्छ वायु में श्वास लेने से हमें कैसे लाभ होता है इसका वर्णन वेद के निम्न मन्त्रों में किया गया है -

“द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः ।

दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद् रवः ॥”

“आ बात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रवः ।

त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे ॥”

(ऋ० १० १३७. २-३, अथर्व ४. १३२२-३)

इन दोनों मन्त्रों में प्राण और अपान दोनों प्रकार की वायुओं का निर्देश किया गया है । यहाँ से प्राण वायु शरीर में बल भेजने और अपान वायु से शरीरिक मलों के बाहर निकालने के लिए कहा गया है । मन्त्रार्थ इस प्रकार है- श्वास निश्वास रूप दो वायु चलती हैं । एक बाहर से समुद्र तक और दूसरी समुद्र से बाहर के वायु मण्डल तक । हे मनुष्य, यह पहली वायु तुझे बल प्राप्त कराए और दूसरी तेरे शारीरिक दोष को अपने साथ बाहर ले आए । हे शुद्ध वायु ! तू अपने साथ ओषध को ला । हे वायु ! शरीर में जो मल है उसे तू बाहर निकाल । तू सब रोगों की दवा है, तू देवों का दूत होकर विचरता है ।

यहाँ पर “समुद्र” से “अभिप्राय फेफड़ों का रक्त समुद्र और “वायुमण्डल” का अभिप्राय “फेफड़ों” से बाहर का वायुमण्डल हो सकता है। तात्पर्य यह होगा कि हमारा हृदय शरीर के अशुद्ध रक्त को शुद्ध होने के लिए फेफड़ों की सूक्ष्म नलिकाओं में पहुँचा देता है तब वह स्वच्छ वायु फेफड़ों में पहुँच कर रक्त नलिकाओं में विद्यमान अशुद्ध रक्त से संयुक्त होकर अपनी ऑक्सीजन के द्वारा अशुद्ध रक्त को शुद्ध करके बाहर निकलने वाले निःश्वास के साथ रक्त के मल को बाहर निकाल देती है। परन्तु प्रदूषित वायु में श्वास लेने से यह प्रक्रिया सम्भव नहीं हो पाती।

वनस्पतियों द्वारा वायु शोधन

यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि कार्बन डायऑक्साइड की मात्रा आवश्यकता से अधिक बढ़ जाने पर वायु प्रदूषित हो जाती है, पौधे वनस्पतियाँ और पेड़ पौधे कार्बन-डायऑक्साइड को ग्रहण कर हम मनुष्यों के लिए आक्सीजन छोड़ते हैं। अतः वेद का कहना है कि वायु प्रदूषण रोकने के लिए- वनस्पति “वनं आस्थाप्यध्वम्” (१०.१०१ ११) अथवा “वनं वनस्पतयः उगाओ।” “वृक्षारोपण करो” वन महोत्सव मनाओ। यदि मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए वनों व वनस्पतियों को काटता ही जाए और नए वृक्ष नहीं लगाता तो पृथ्वी पर कार्बन डायऑक्साइड की मात्रा जाएगी जिससे धन-धान्य, वन-वनस्पतियाँ सब नष्ट हो जाएँगी पर्वतों पर जमी बर्फ पिघलने लग जाएगी जो जल प्लावन का कारण बन सकती है। ऐसी स्थिति में वेद मानवता की रक्षा हेतु कह उठता है -

“अयं हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभाग्याय ।

अतस्त्वं देव वनस्पते शान्तवल्शो विरोह, सहस्रवल्शा वि वयं ॥

- यजुर्वेद (५ ४३)

कहकर घरों के बाहर आने जाने के रास्ते में दोनों ओर फूलों वाली दूब घास लगाने ओर मैदान में फव्वारा एवं कमलों से अलंकृत सरोवर बनाने का निर्देश दिया गया है। यह सब पर्यावरण को शुद्ध पवित्र रखने के ही तो उपाय हैं। यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय में “वनानां पतये नमः” “वृक्षाणां पतये नमः” “अख्यानां पतये नमः” प्रभृति शब्दों से राष्ट्र की ओर से वृक्षों, ओषधियों व आख्यकों के रक्षक नियुक्त करने तथा उन रक्षकों को उचित सम्मान देने का निर्देश मिलता है। आज कल, वायु एवं भूमि के प्रदूषण के कारण तथा कृत्रिम रासायनिक खादों के प्रयोग से अन्न भी प्रदूषित हो रहा है। परन्तु वेद इसके लिए भी सतर्क है और “अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि अनमीवस्य शुष्मिणः।” (यजु. ११. ८३) कहकर कामना करता है कि हमारा अन्न दूषित एवं रोगोत्पादक न होकर शक्ति दायक हो”।

जल

शुद्ध जलों का महत्त्व

अथर्ववेद के निम्न मन्त्रों -

शं त आवो हैमवतीः शमु ते सन्तूत्स्याः ।

शं ते सनिष्यदा आपः शमु ते सन्तु वर्ष्याः ॥

शं ते खनित्रमा आपः शं याः कुम्भे भिराभृताः

(१९ २. १-२)

में वैदिक ऋषि ने हिमालय के जल, स्रोतों के जल, सदा बहते रहने वाले जल, वर्षाजल, मरुस्थलों के जल, आर्द्र प्रदेशों के जल, भूमि खोदकर प्राप्त किए जाने वाले जल और घड़ों (मिट्टी, लोहा, तांबा, सोना, चाँदी आदि से बने घड़े) में रखे हुए जल इन विविध प्रकार के जलों का वर्णन किया है। उनका कहना है कि ये जल अपने अपने स्थान विशेष के

लाभकारी खनिजों, औषधियों व द्रव्यों (जैसे गन्धक, लोहा, अभ्रक आदि) से संयुक्त होने के कारण सबके लिए प्रदूषणशामक व रोगनाशक हों। वेद मनुष्य को चेतावनी देता है कि - “मापो-मौषधीर्हिंसीः” (यजु. ६ २२.) तू इन जल और औषधियों की हिंसा मत कर (हिंसा से अभिप्राय है दूषित करना या विनष्ट करना। क्योंकि “अप्स्वन्तरमृतम् अप्सु भेषजम्” (ऋ. १०. २३ १९) शुद्ध जल के अन्दर अमृत होता है और औषध का निवास होता है। आगे पुनः वेद का कथन है कि “इदमाप प्रवहत यत्किञ्च दुरितं मयि” (ऋ. १०. ०. ४) मन्त्र में कहा गया है कि शुद्ध जलों में स्नान और उनका पान शरीर के मलों को बाहर निकालता है। इसी भाँति “शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभिस्त्रवन्तु नः” (ऋ १०. ०. ४) मन्त्र में कहा गया कि शुद्ध जलों का पान करके एवं उन्हें अपने चारों ओर बहाकर अर्थात् उनमें डुबकी लगाकर हम अपना स्वास्थ्यरूप अभीष्ट प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि ये जल समस्त प्रदूषण को बहा ले जाते हैं (ऋ १०. १७. १९) और वे जल ही “मधुश्चुतः शुचयोः याः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु” (ऋ ७. ४९ ३.) मानव अन्य प्राणिवर्ग एवं वनस्पति जगत् के रक्षक हो सकते हैं जो मधुसावी पवित्र एवं पवित्रदायक हो।

जल शोधन

जलों को प्रदूषित न होने देने तथा प्रदूषित जलों को शुद्ध करने के कुछ उपायों का संकेत वेदों में प्राप्त होता है।

निम्न मन्त्र -

यासु राजा वरुणो यासु सोमशै विश्वेदेवा यासूर्ज मदन्ति ।

वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥

(ऋ. ७ ४९)

में कहा गया है कि वे दिव्य जल हमारे लिए सुखदायक हों जिसमें वरुण विश्वेदेवाः तथा वैश्वानर अग्नि प्रविष्ट हैं यहाँ वरुण शुद्धवायु या कोई जलशोधक गैस हो सकती है, सोम चन्द्रमा सोमलता, विश्वेदेवाः सूर्य किरणे तथा वैश्वानर अग्नि सामान्य आग या विद्युत हो सकती है । यहाँ यही तात्पर्य है कि इनके प्रदूषित जल को शुद्ध स्वच्छ किया जा सकता है । इसी भाँति -

सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाभ्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ।

(यजु १. १२. ३१)

यजुओं में यंत्रों द्वारा या प्राकृतिक रूप से सूर्यताप को जल में पहुँचाना जल-शोधन का एक विशिष्ट उपाय बताया है । यहाँ पर कुशा, एक घास विशेष को भी जल शोधक कहा गया है ।

नदियों के जल यदि अशुद्ध पदार्थों से प्रदूषित हो जाए तो विशाल स्तर पर उन्हें शुद्ध करने के अभियान का संकेत भी वेद में मिलता है । ऋग्वेद ७. ५०.३ में उल्लेख आया है कि “यन्नदीषु..... परिजायते विषम् । विश्वेदेवा निरितस्तत् सुवन्तु” अर्थात् यदि नदियों में विष उत्पन्न हो गया है तो सब विद्वान् मिलकर उसे दूर कर लें तो ‘शिवा देवीरशिपदा भवन्तु, सर्वा नद्यो अशिमिदा भवन्तु (वही मन्त्र ४) सब नदियाँ प्रदूषण रहित हो जाएँ । इस भाँति वेद की दृष्टि में यदि शुद्ध पवित्र जलों से उनके दिव्य गुणों का लाभ लिया जाए तो मानव स्वयं स्वस्थ रह कर अपने आस पास के पर्यावरण को भी स्वस्थ रख सकता है ।

भूमि

“माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः” (अथर्व. १२. १. १२) कहकर वेद ने भूमि को माता स्वीकार किया है और यह भूमि “विश्वभारावसुधानी

प्रतिष्ठा हिरण्यवक्ष जगतो निवेशनी (वही १२. १. ६ है) अर्थात् विश्व का पालन करने वाली है, धनों की खान है, प्रतिष्ठा देने वाली है, सोने की छाती वाली है और जगत को अपने ऊपर बसाने वाली है। भूमिवासी जन भूमि माता को संबोधन करके कहते हैं कि - पृथिवि मातमां मा हिंसीमो अहं त्वाम्। (यजु० - १० २३) अर्थात् हे भूमि माता! तुम हमारी हिंसा मत करो और हम तुम्हारी हिंसा न करें। भूमि की हिंसा करने का अभिप्राय यह हो सकता है कि हम उस पर पैदा होने वाले पेड़ पौधों को निर्दयतापूर्वक न काटें जिससे उसका अनुचित कटाव न हो और न ही लगातार एक ही प्रकार की फसलों के वपन से भूमि के पोषक तत्वों को खींच लें जिससे उसकी उपजाऊ शक्ति ही क्षीण हो जाए। अत्यधिक रासायनिक खादों व कीटनाशक दवाईयों का प्रयोग भी भूमि की मिट्टी को प्रदूषित करता है- यह भी उसकी हिंसा करना ही है। वेद का कथन है कि “उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा”, (अथर्व १२.१.६२) अर्थात् भूमि की गोद, (धरातल) एवं अन्दर के अवयव हमारे लिए कीटाणुयुक्त तथा रोगोत्पादक न हों। यह तभी सम्भव हो सकता है जब भूमि की मिट्टी में किसी प्रकार का प्रदूषण या कमी पर्यावरण के लिए हानिकर है तो वेद का सन्देश है कि “सते वायुर्मातरिश्वा दधातु उत्तानाया हृदयं यद् विकस्तम्” (यजु. ११.३९) उत्तान लेटी हुई भूमि का हृदय यदि क्षतिग्रस्त हो गया है तो मातरिश्वा वायु उसमें पुनः शक्ति संधान कर दे। अभिप्राय यह है कि यदि भूमि की उपजाऊ शक्ति न्यून अथवा समाप्त प्राय हो गई है तो कुछ समय के लिए उसमें खेती न करके उसे खाली छोड़े रखने से शुद्ध वायु, सूर्य रश्मि, वर्षा आदि के द्वारा उसमें पुनः शक्ति आ सकती है। शुद्ध स्वस्थ वायु, जल और भूमि ही अच्छा पर्यावरण बना सकते हैं।

“शम्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनाः” (अथर्व ४.२७.३)

“अनवद्यासः शुचयः पावकाः” (ऋ.७.५७.५)

“गृभायतः रक्षसः सं पिनष्टन” (ऋ- ७.१०४.१८)

अर्थात् झंझावात रूप मरुत् (आंधी) प्रदूषण को बहा ले जाकर हमें उपकृत तथा रक्षित करते हैं, रोगकृमि रूप राक्षसों को जकड़ कर पीस डालते हैं। इसी भाँति अथर्ववेद के निम्न मन्त्र -

आ पर्यन्यस्य वृष्टयोदस्थामामृता व्यम ।

व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ (३.१ १)

में कहा गया है कि बादल की वृष्टि से हम उत्कृष्ट स्थिति को पा लेते हैं। सब पेड़-पौधे-पर्वत, भू प्रदेश धुलकर स्वच्छ हो जाते हैं। रोग दूर हो जाते हैं, प्राणियों की आयु लम्बी हो जाती है। सूर्य को प्रदूषण निवारक के रूप में चित्रित करते हुए यजुर्वेद में कहा गया है-

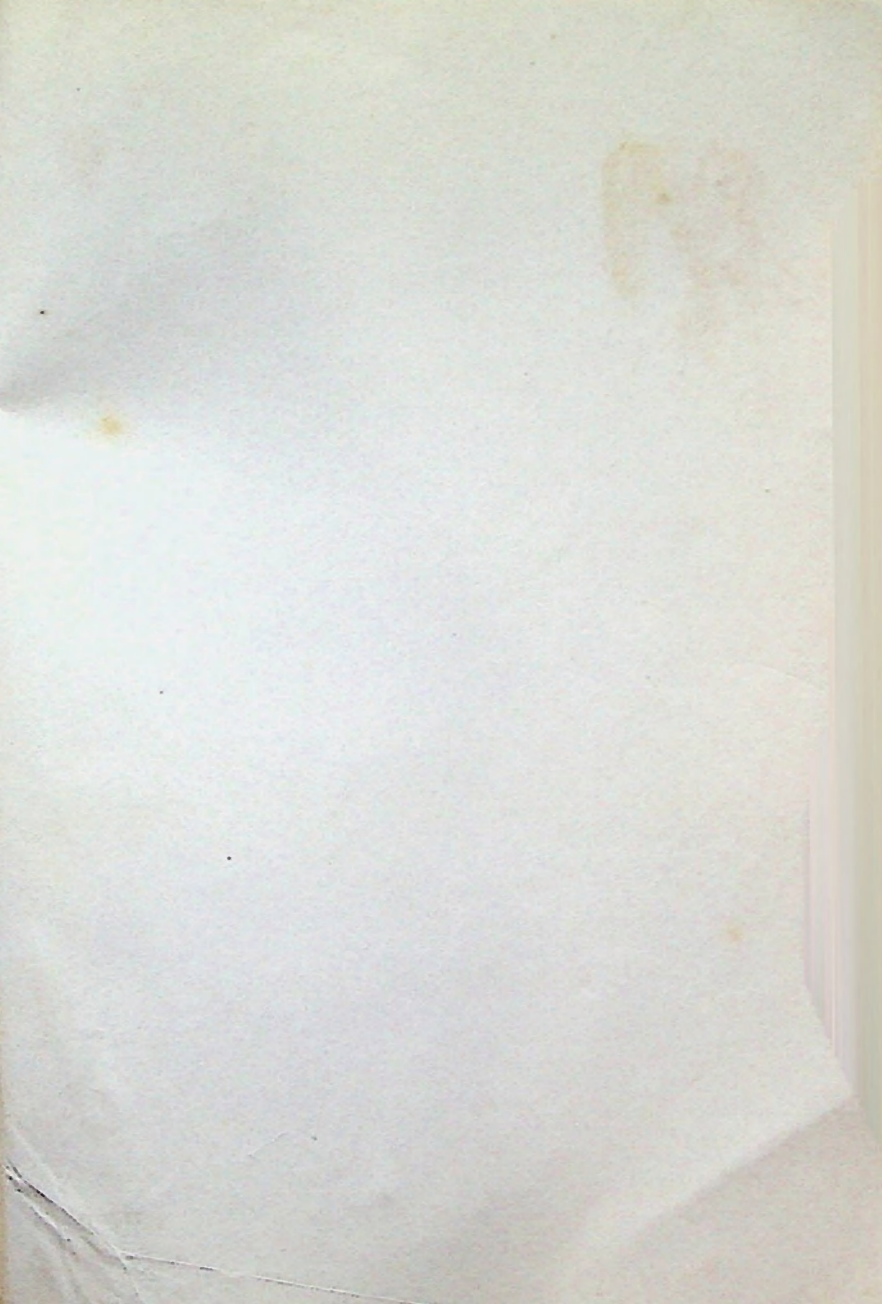
“उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन व ।

मां पुनीहि विश्वतः ॥

(१९.४३)

अर्थात् सूर्य अपने रश्मि जाल से तथा अपने द्वारा की जाने वाली वर्षा से चारों ओर पवित्रता प्रदान करता है। यह एक वैज्ञानिक तथ्य भी है कि सूर्य का ताप और सूक्ष्म प्रकाश कृमियों को भी नष्ट कर देता है। फलतः प्रदूषण समाप्त हो जाता है।

उपसंहार रूप से यही कहा जा सकता है कि वेद मनुष्य को वायु, जल, भूमि, वनस्पतियों अन्न आदि पर्यावरण के इन घटकों की शुद्धि के प्रति जागरूक रहने का सन्देश देता है तथा इनमें आई अशुद्धता को दूर करने के लिए प्रेरित करता है क्योंकि शुद्ध स्वच्छ पर्यावरण में ही मनुष्य शारीरिक व मानसिक रूप से स्वस्थ रह कर सुखी हो सकता है। संस्कृत के माध्यम से पर्यावरण विज्ञान संबंधी ज्ञान-राशि इस प्रकार स्वतः उद्घाटित हो सकती है।



भारतीय-

बौद्धिक ॐ सम्पद्

संस्कृतवाङ्मये निहितान्

रसायन-भौतिक-जीव-सस्य-कृषि-वाणिज्य-ज्योतिष-
वास्तु-शिल्प-गणित-आदिविविधवैज्ञानिकविषयान् ज्ञातुम्
पठतु एतां त्रैमासिकीम् ।

आङ्ग्ल-हिन्दी-संस्कृतेतिमाषात्रये लेखनानि

वार्षिक ग्राहकशुल्कम् - भारते रू० २००/-
विदेशे \$ ५०

'भारतीय-बौद्धिक-सम्पद्' इति नाम्ना लिखितं वैक्. डि० डि० सहितं
प्रवदीयं पत्रसङ्कृतम् अधोनिर्दिष्टाय पत्रसङ्कृताय प्रेषयतु-

भारतीय-बौद्धिक-सम्पद्

२४, योगक्षेम ले आउट, वर्धा मार्ग,

नागपुर - ४४० ०१५

मूल्यम् - ३५.००